प्रकाशक—
बाबू केदारनाथ गुप्त, एम० ए०
प्रोप्राइटर—छात्रहितकारी पुस्तकमाला
दारागंज, प्रयाग।

मुद्रक—
श्री रघुनाथप्रसाद वर्मा,
नागरी प्रेस, दारागंज,
प्रयाग।

पुण्य स्मृतियाँ

भगवान बुद्ध

आपको शायद पता नहीं है कि मेरे बड़े लड़के ने मुझपर बौद्ध होने का इल्जाम लगाया था और मेरे कुछ हिन्दू देशवासी भी यह कहने में नहीं हिचकते कि मैं सनातन हिन्दू धर्म के भेस में बौद्ध धर्म का प्रचार कर रहा हूँ। मेरे लड़के के अभियोग से और हिन्दू मित्रों के इल्जाम से मेरी सहानुभूति है और कभी कभी मैं बुद्ध का अनुयायी होने के इल्जाम में ही, गर्व का अनुभव करता हूँ और इस सभा में मुझे आज यह कहने में जरा भी हिचक नहीं है कि मैंने बुद्ध भगवान के जीवन से बहुत कुछ पाया है। कलकत्ते के नये बौद्ध मन्दिर में किसी वार्षिकोत्सव पर मैंने यही ख्याल जाहिर किये थे। उस सभा के नेता थे अनागरिक धर्मपाल। वे इस बात पर रो रहे थे कि उनके प्रिय कार्य की ओर लोग मुतवज्जह नहीं होते और इस रोने के लिए मैंने उन्हें बुरा भला कहा था। मैंने श्रोताओं से कहा कि बौद्ध धर्म के नामवाली चीज भले ही हिन्दुस्तान से दूर हो गई होवे, मगर बुद्ध भगवान्

का जीवन और उनकी शिक्षाएँ तो हिन्दुस्तान से दूर नहीं हुई हैं। यह बात तीन साल पहले की है और अब भी मैं उसमें कोई फेर-बदल करने की वजह नहीं देखता। मेरी यह सम्मति गहरे विचार के बाद हुई है कि बुद्ध के शिक्षाओं का प्रधान अंग हिन्दू धर्म के आज अटूट अंग हो रहे हैं। आज हिन्दू संसार के लिए गौतम के किये सुधारों के पीछे पग हटाना असंभव है। अपने महान त्याग, वैराग्य और निर्मल पवित्रता से गौतम बुद्ध ने हिन्दू धर्म पर अमिट छाप डाली है और हिन्दू धर्म उस महान शिक्षक से कभी उऋण नहीं हो सकता और अगर आप मुझे क्षमा करें और कहने देवें तो मैं कहूँगा कि हिन्दू धर्म ने आज के बौद्ध धर्म का जो अंश नहीं लिया है, वह बुद्ध के जीवन और शिक्षाओं का मुख्य अंश ही नहीं था।

हिन्दू और बौद्ध धर्म

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि बौद्ध धर्म या बल्कि बुद्ध की शिक्षाओं को हिन्दुस्तान में ही पूरी सफलता मिली, और दूसरा कुछ हो भी नहीं सकता था क्योंकि गौतम भी तो स्वयं सच्चे से सच्चे हिन्दुओं में से ही एक थे। उनकी नस नस में हिन्दू धर्म की खूबियाँ भरी पड़ी थीं। उस समय वेदों की बेकार बातों के नीचे गड़ी हुई कुछ खास शिक्षाओं में उन्होंने जान डाल दी। उनकी हिन्दू भावना ने बेमानी मतलब के शब्दों के जंगल में दबे हुए वेदों के अनमोल सत्यों को जाहिर किया। उन्होंने वेदों के कुछ शब्दों से ऐसे अर्थ निकाले जिनसे उस युग के लोग बिल-

महात्मा बुद्ध

गोस्वामी तुलसीदास

कुल अपरिचित थे और उन्हें हिन्दुस्तान में सबसे अच्छा क्षेत्र मिला। जहाँ कहीं बुद्ध भगवान् गये उनकी चारों ओर अहिन्दू नहीं, बल्कि वेदों की भावना को अपनी नस नस में भरे हुए हिन्दू विद्वान् ही घिरे रहते थे। मगर उनके दिल के जैसा उनकी शिक्षा भी अत्यन्त विस्तृत थी और इसीलिये उनके मरने के बाद भी वह बनी रही, पृथ्वी के एक किनारे से दूसरे तक छा गयी, और बुद्ध का अनुयायी कहे जाने का खतरा होते हुए भी मैं इसे हिन्दू धर्म की ही विजय कहता हूँ। उन्होंने हिन्दू धर्म को कभी इन्कार नहीं किया, केवल उसका आधार विस्तृत कर दिया। बुद्ध भगवान् ने इसमें एक नयी जान फूँक दी, इसको एक नया ही रूप दे दिया। मगर अब आगे जो कुछ मैं कहूँगा उसके लिए आप क्षमा करेंगे। मैं आपसे यही कहना चाहता हूँ कि बुद्ध की शिक्षाएँ पूरी पूरी किसी देश के जीवन में, चाहे तिब्बत, सिलोन और बर्मा कोई देश क्यों न हो जज्ब नहीं हुई। मैं अपनी मर्यादा जानता हूँ। मैं बौद्ध धर्म के पांडित्य का दावा नहीं रखता। बौद्ध धर्म पर प्रश्नोत्तर में शायद नालंद विद्यालय का एक छोटा लड़का भी मुझे हरा देगा। मैं जानता हूँ कि यहाँ मैं बहुत बड़े विद्वान् भिक्षुओं और गृहस्थों के सामने बोल रहा हूँ मगर मैं आपके सामने और अपनी अन्तरात्मा के सामने झूठा ठहरूँगा अगर मैं अपने दिल का विश्वास आपसे न कहूँ।

आस्तिकता

आप लोगों और हिन्दुस्तान के बाहर के बौद्धों ने बेशक

बुद्ध की बहुत सी शिक्षाएँ ग्रहण की हैं। मगर जब मैं आपके जीवन की जाँच करता हूँ और सिलोन, बर्मा, चीन या तिब्बत के भी मित्रों से प्रश्न पूछता हूँ तो मैं आपके जीवन में, और बुद्ध के जीवन का जो मैं मुख्य भाग समझता हूँ उसमें अन्तर देख कर फेर में पड़ जाता हूँ। अगर मेरी बातें आपको थका न देती हों तो मैं आपके सामने तीन खास बातें रखना चाहूँगा। पहली चीज है सर्व्वान्तर्यामी सर्वशक्तिशाली नियति में विश्वास करना। मैंने यह बात अनगिनत बार सुनी है और बौद्ध धर्म के भाव को प्रकट करने का दावा करनेवाली किताबों में पढ़ी है कि गौतम बुद्ध परमात्मा में विश्वास नहीं करते थे। मेरी नम्र सम्मति में बुद्ध की शिक्षाओं के मुख्य बात के यह बिलकुल विरुद्ध है। मेरी नम्र सम्मति में यह भ्रान्ति इस बात से फैली कि गौतम बुद्ध ने अपने जमाने में ईश्वर के नाम से गिनी जानेवाली सभी मामूली चीजों को इन्कार किया था और यह उचित ही किया था। उन्होंने बेशक ही, इस खयाल को इनकार किया कि ईश्वर नाम का कोई जानवर है जो द्वेष-विकार से विचलित होता हो, जो अपने कामों के लिये पछताता हो, जो दुनियावी राजों महाराजों जैसा घूस लेता हो, जो लालची हो, या जिसे कुछ खास मनुष्य ही प्रिय हों। उनकी आत्मा इस विश्वास के विरुद्ध जोरों से जाग उठी कि कोई ईश्वर नाम का जीवधारी है जो अपनी ही सृष्टि पशुओं का खून पीकर खुश होता है। इसलिये उन्होंने परमात्मा को उनके सच्चे आसन पर बिठाया

और उस आसन पर बैठे हुए लुटेरे को गिरा दिया। उन्होंने इस संसार के शाश्वत और अटल नैतिक नियमों पर ज़ोर दिया, और उसकी घोषणा फिर फिर से की। उन्होंने बिना किसी झिझक के कहा है कि नियम ही परमात्मा है।

बुद्ध का सबसे बड़ा काम

तीसरी बात यह नीचा ख़याल है कि नीची श्रेणी के जीवधारियों के जीवन का महत्व हिन्दुस्तान के बाहर ही समझा गया है। परमात्मा को उनके शाश्वत आसन पर पहुँचाने में बुद्ध की जो बड़ी भारी सेवा थी,—उससे भी उनकी बड़ी सेवा मैं यह मानता हूँ कि उन्होंने मनुष्यों के ही बराबर दूसरे प्राणियों के भी जीवन। का आदर करना सिखलाया, चाहे वे कितने ही छोटे क्यों न हों मैं जानता हूँ कि उनका अपना भारतवर्ष उस हद तक ऊँचे नहीं चढ़ा, जो देखकर उन्हें ख़ुशी होती, मगर जब उनकी शिक्षाएँ दूसरे देशों में बौद्ध धर्म के नाम से पहुँचीं, तब उनका यह अर्थ लगने लगा कि पशुओं के जीवन की वही कीमत नहीं है जो मनुष्यों के जीवन की है। मुझे सिलोन के बौद्ध धर्म के रिवाजों का ठीक पता नहीं है मगर मैं जानता हूँ कि चीन और बर्मा में उसने कौनसा रूप धारण किया है। खासकर बर्मा में कोई बौद्ध एक भी जानवर नहीं मारेगा, मगर, दूसरे लोग उसे मार और पकाकर लावें तो उसे खाने में कोई झिझक नहीं होगी। संसार में अगर किसी शिक्षक ने यह सिखलाया है कि हर एक कार्य का फल अनिवार्य रूप से मिलता है तो गौतम बुद्ध ने ही,

मगर तो भी, आज हिन्दुस्तान के बाहर के बौद्ध अपने कामों के फलों से बचने की कोशिश करते हैं। मगर मुझे आपका धैर्य नष्ट नहीं करना चाहिये। मैंने कुछ बातों का थोड़ा ज़िक्र भर किया है, जिन्हें आपके सामने लाना मैं अपना कर्त्तव्य समझता था और मैं बड़ी नम्रता के साथ आपसे आग्रहपूर्वक उनपर ध्यान से विचार करने की प्रार्थना करता हूँ।

निर्वाण क्या ?

परमात्मा के नियम शाश्वत और अटल हैं। वे परमात्मा से अलग नहीं किये जा सकते। उनकी सम्पूर्णता की यह शर्त अनिवार्य है। इसलिए यह भ्रान्ति फैली कि गौतम-बुद्ध का परमात्मा में विश्वास नहीं था और वे सिर्फ नैतिक नियमों में ही विश्वास करते थे और ईश्वर के बारे में यह भ्रान्ति फैलने से ही, 'निर्वाण' के बारे में भी मति भ्रम हुआ है। निर्वाण का अर्थ 'सम्पूर्ण रूप से अनस्तित्व' तो बेशक नहीं है। 'बुद्ध' के जीवन की एक मुख्य बात जो मैं समझ सका हूँ, वह यह है कि निर्वाण का अर्थ है, हममें सभी बुराइयों का बिलकुल नष्ट हो जाना, सभी विकारों का नेस्तनाबूद हो जाना, जो कुछ कि भ्रष्ट है या भ्रष्ट हो सकता है उसकी हस्ती मिट जानी। निर्वाण कब्र की मृत शान्ति नहीं है बल्कि वह तो है उस आत्मा की जीवन शान्ति, जीवन सुख जिसने अपने आपको पहचान लिया हो, अनन्त के भीतर अपना निवास ढूँढ़ निकाला हो।*

* लंका में बौद्धों द्वारा दिये मान-पत्र के उत्तर में दिया हुआ गाँधी जी का भाषण।

सुकरात

उच्चकोटि का नीतिज्ञ और वीर महापुरुष सुकरात ईस्वी सन् से ४७१ वर्ष पूर्व यूनान देश में उत्पन्न हुआ था। उसका जीवन, नीति और परोपकार के कामों के करने में ही बीता था। उसके गुणों को कुछ अकारणद्वेषी मनुष्य नहीं देख सके—इसलिए उन्होंने उस पर अनेक झूठे अपराध लगाने शुरू किये। सुकरात ईश्वर से खूब डरकर चलनेवाला था। इसीलिए उसे उन मनुष्यों की टीका-टिप्पणी की विशेष परवाह नहीं थी। उसे मौत का बिलकुल डर नहीं था। वह स्वयं सुधारक था, और यूनान की राजधानी एथेन्स के लोगों में जो बुराइयाँ थीं, उनको भी निकालने के लिये वह प्रयत्न करता था। इस काम में उसे बहुत आदमियों से वादविवाद करने का काम पड़ता था। नवयुवकों के मन पर उसकी बातों का बहुत असर होता था। इसलिए वे टोलियाँ बाँधकर उसके पीछे-पीछे फिरा करते थे। इसमें कुछ लुटेरों को लूट करने में और उन मनुष्यों की, जिनका धंधा औरों का काम बिगाड़ना ही था, कमाई में बहुत हानि पहुँचने लगी।

एथेन्स में ऐसा कायदा था कि, जो लोग वहाँ के निश्चित किये हुए धर्म्म के अनुसार नहीं चलते थे और दूसरों को उस धर्म्म के विरुद्ध आचरण करना सिखाते थे, वे अपराधी गिने जाते थे। अपराधी साबित हो जाने पर उनको मौत की सजा दी जाती थी। सुकरात यद्यपि स्वयं राजधर्म्म के अनुसार

चलता था, तथापि उसमें जो पाखण्ड घुस गया था, उसको नष्ट करने की शिक्षा वह निर्भय होकर देता था, और स्वयं भी उस पाखण्ड से अलग रहता था।

एथेन्स के कायदे के अनुसार उस प्रकार के अपराधियों की जाँच पंचों के सामने होती थी। सुकरात के ऊपर राजधर्म को तोड़ने और दूसरों से उसे तुड़वाने का अपराध लगाया गया था। उसकी भी जाँच पंचों के सामने हुई थी। पंचों में से बहुतों को सुकरात के उपदेशों से नुकसान पहुँचा था, इसलिए वे पहले से ही उस पर जले हुए थे। उन्होंने अन्याय-पूर्वक सुकरात को अपराधी ठहराया और उसे जहर पीकर मरने की सजा दी। उस समय किसी को जब मौत की सजा दी जाती थी, तब उसके शरीर के नाश के लिये वे लोग अनेक उपायों को काम में लाते थे।

वह वीर पुरुष अपने हाथ से जहर पीकर मरा था। जो दिन उसके जहर पीने के लिये निश्चित किया गया था, उसी दिन उसने शरीर की नश्वरता और जीव की अमरता पर अपने मित्रों और शिष्यों के सामने एक व्याख्यान दिया था। ऐसा कहा जाता है कि, जहर पीते समय भी सॉक्रेटीज बिल्कुल निर्भय और खुश था। उसे जो व्याख्यान देना था, उसके अन्तिम वाक्य को पूरा करके उसने हँसते हुए शर्बत के प्याले की तरह, उस जहर के प्याले को पी लिया था।

आज दुनिया सुकरात को याद करती है। उसके उपदेशों

से लाखों आदमी लाभ उठाते हैं। उसपर अपराध लगानेवालों और उसे सजा देनेवालों की आज सारा संसार बुराई करता है। परन्तु सुकरात सदा के लिये अमर हो चुका है। उसके जैसे महात्मा के नाम से युनान देश का सिर आज भी ऊँचा है।

सुकरात ने अपनी सफाई में जो भाषण दिया था, उसे उसके प्रसिद्ध शिष्य प्लेटो ने लिपिबद्ध कर लिया था। उसका अनुवाद अनेक भाषाओं में हो चुका है। सफाई का वह व्याख्यान बहुत ही रसभरा और नीतिपूर्ण है।

समग्र भारतवर्ष में अभी हमें बहुत से ऐसे काम करने हैं, जिनसे देश की सारी आफतें दूर हो जायँ। हमें सुकरात की तरह जीना और मरना सीखना चाहिए। सुकरात एक बड़ा भारी सत्याग्रही था। उसने अपने देश की प्रजा के विरुद्ध सत्याग्रह किया, इसीसे युनानी लोग उन्नत हुए। हम कायर बनकर अपने सन्मान और अपनी जिन्दगी के भय से अपनी त्रुटियों की जाँच नहीं करते या उन्हें जानते हुए भी उनकी तरफ लोगों का ध्यान नहीं खींचते। जब तक हम निर्भय होकर सत्याग्रह नहीं करेंगे, तब तक सैकड़ों दिखाऊ उपाय करने पर, कांग्रेसों के भरते रहने पर, गरम दलवाले बने रहने पर और असहयोगियों में नाम लिखा लेने पर भी हम हिन्दुस्तान का भला नहीं कर सकेंगे। इन सब कामों से उसका भला नहीं होगा। असली रोग को पहचान कर और उसे प्रकट करके योग्य उपायों को काम में लाने पर ही हिन्दुस्तान के शरीर के बाहरी

और भीतरी दोनों भाग पूरे निरोग हो सकेंगे। तभी अंग्रेज या किसी और के द्वारा किये हुए ज़ुल्मरूपी रोगजन्तु उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकेंगे। परन्तु यदि शरीर स्वयं ही सड़ा हुआ होगा, तो एक प्रकार के रोगजन्तु को नष्ट करने पर उसके स्थान पर दूसरी तरह का कोई रोगजन्तु घुस बैठेगा; और भारत-महा-शरीर को बरबाद कर देगा।

इन विचारों को ध्यान में लेकर सुकरात के समान महात्मा के वाक्यों को अमृत समझ कर उनकी घूँटें हमारे पाठक पीवें, और उससे अपने अन्तरात्मा के रोगों को नष्ट करके दूसरों को उनके रोग नष्ट करने में सहायता दें।

२—तुलसीदास जी

भिन्न भिन्न मित्र पूछते हैं :—

"रामायण को आप सर्वोत्तम ग्रन्थ मानते हैं, परन्तु समझ में नहीं आता क्यों? देखिये तुलसीदास जी ने स्त्री-जाति की कितनी निन्दा की है। बालि-वध का कैसा समर्थन किया है। विभीषण के देश-द्रोह की किस क़दर प्रशंसा की है। सीता जी पर घोर अन्याय करनेवाले राम को अवतार बताया है। ऐसे ग्रन्थ में आप कौन सौन्दर्य देख पाते हैं? तुलसीदास जी के काव्य-चातुर्य के लिये तो, शायद, आप रामायण को सर्वोत्तम ग्रन्थ नहीं समझते होंगे? यदि ऐसा ही है तो, कहना पड़ेगा कि आपको काव्य-परीक्षा का कोई अधिकार ही नहीं।"

उपरोक्त सब सवाल एक ही मित्र के नहीं हैं, परन्तु भिन्न भिन्न मित्रों ने भिन्न समय पर जो कुछ कहा है और लिखा है, उसका यह सार है। यदि ऐसी एक टीका को लेकर देखें तो सारी की सारी रामायण दोषमय सिद्ध की जा सकती है। सन्तोष यही है कि इस तरह प्रत्येक ग्रन्थ और प्रत्येक मनुष्य दोषमय सिद्ध किया जा सकता है। एक चित्रकार ने अपने टीकाकारों को उत्तर देने के लिये अपने चित्र को प्रदर्शिनी में रखा और नीचे इस तरह लिखा 'इस चित्र में जिसको जिस जगह दोष प्रतीत हों, वह उस जगह अपनी क़लम से चिह्न कर दे। परिणाम यह हुआ कि चित्र के अंग-प्रत्यङ्ग दोषपूर्ण बताये गये। मगर वस्तुस्थिति यह थी कि वह चित्र अत्यन्त कलायुक्त था। टीकाकारों ने तो वेद, बायबल और क़ुरान में भी बहुतेरे दोष बताये हैं परन्तु उन ग्रन्थों के भक्त उनमें दोषों का अनुभव नहीं करते। प्रत्येक ग्रन्थ की परीक्षा पूरे ग्रन्थ के रहस्य को देखकर ही की जानी चाहिये। यह बाह्य परीक्षा है। अधिकांश पाठकों पर ग्रन्थ विशेष का क्या असर हुआ है यह देख कर ही ग्रन्थ की आन्तरिक परीक्षा की जाती है। और किसी भी साधन से क्यों न देखा जाय रामायण की श्रेष्ठता ही सिद्ध होती है। ग्रन्थ को सर्वोत्तम कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि उसमें एक भी दोष नहीं है। परन्तु रामचरितमानस के लिये यह दावा अवश्य है कि उसमें लाखों मनुष्यों को शान्ति मिली है। जो लोग ईश्वर-विमुख थे वे ईश्वर के सम्मुख गये हैं और आज भी जा

रहे हैं। मानस का प्रत्येक पृष्ठ भक्ति से भरपूर है। मानस अनुभव-जन्य ज्ञान का भंडार है।

यह बात ठीक है कि पापी अपने पाप का समर्थन करने के लिये रामचरितमानस का सहारा लेते हैं, इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे लोग रामचरितमानस में से अकेले पाप का ही पाठ सीखते हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि तुलसीदासजी ने स्त्रियों पर अनिच्छा से अन्याय किया है। इसमें और ऐसी ही अन्य बातों में तुलसीदासजी अपने युग की प्रचलित मान्यताओं से परे नहीं जा सकते थे। अर्थात् तुलसीदासजी सुधारक नहीं, बल्कि भक्तशिरोमणि थे। इसमें हम तुलसीदासजी के दोषों का नहीं परन्तु उनके युग के दोषों का दर्शन अवश्य करते हैं।

ऐसी दशा में सुधारक क्या करें? क्या उनको तुलसीदासजी से कुछ सहायता नहीं मिल सकती? अवश्य मिल सकती है। रामचरितमानस में स्त्री-जाति की काफी निन्दा मिलती है। परन्तु उसी ग्रन्थ द्वारा सीताजी के पुनीत चरित का भी हमें परिचय मिलता है। बिना सीता के राम कैसे? राम का यश सीताजी पर निर्भर है। सीताजी का रामजी पर नहीं। कौशल्या, सुमित्रा आदि भी मानस के पूजनीय पात्र हैं। शबरी और अहल्या की भक्ति आज भी सराहनीय है। रावण राक्षस था, मगर मन्दोदरी सती थी। ऐसे अनेक दृष्टान्त इस पवित्र भण्डार में से मिल सकते हैं। मेरे विचार में इन सब दृष्टान्तों से यही सिद्ध होता है कि

तुलसीदास जो ज्ञान-पूर्वक स्त्री-जाति के निन्दक नहीं थे, ज्ञान-पूर्वक तो स्त्री-जाति के पुजारी ही थे। यह तो स्त्रियों की बात हुई। परन्तु बालिवधादि के बारे में भी दो मतों की गुन्जाइश है। विभीषण में तो मैं कोई दोष नहीं पाता हूँ। विभीषण ने अपने भाई के साथ सत्याग्रह किया था। विभीषण का दृष्टान्त हमें यह सिखाता है कि अपने देश या अपने शासक के दोषों के प्रति सहानुभूति रखना या उन्हें छिपाना देशभक्ति के नाम को लजाना है। इसके विपरीत देश के दोषों का विरोध करना सच्ची देशभक्ति है। विभीषण ने रामजी की सहायता करके देश का भला ही किया था। सीताजी के प्रति रामचन्द्रजी के बर्ताव में निर्दयता नहीं थी, उसमें राजधर्म या पतिप्रेम का द्वन्द्वयुद्ध था।

जिसके दिल में इस सम्बन्ध में शंकायें शुद्ध भाव से उठें, उन्हें मेरी सलाह है कि मेरे तथा किसी और के अर्थ को यंत्रवत् स्वीकार न करें। जिस विषय में हृदय शंकित है उसे छोड़ दें। सत्य, अहिंसादि की विरोधिनी किसी वस्तु को स्वीकार न करें। रामचन्द्र ने छल किया था। इसलिये हम भी छल करें यह सोचना औंधा पाठ पढ़ना है। यह विश्वास रखकर कि रामादि कभी छल नहीं कर सकते हम पूर्णपुरुष का ही ध्यान करें और पूर्णग्रन्थ का ही पठन-पाठन करें। परन्तु 'सर्वारंभाहि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता' न्यायानुसार सब ग्रन्थ दोषपूर्ण हैं यह समझ कर हंसवत् दोषरूपी नीर को निकाल फेंकें और गुण-रूपी क्षीर ही ग्रहण करें। इस तरह अपूर्ण में सम्पूर्ण की प्रतिष्ठा करना गुण-दोष

का पृथक्करण करना, हमेशा व्यक्तियों और युगों को परिस्थिति पर निर्भर रहेगा। स्वतंत्र संपूर्णता केवल ईश्वर में ही है और वह अकथनीय है।

३—टॉलस्टॉय शताब्दि

[गत १० सितंबर सन् १९२८ को रूसी महर्षि टॉलस्टॉय की जन्म शताब्दि थी। उस अवसर पर अहमदाबाद युवक संघ के निवेदन पर गान्धी जो ने सत्याग्रहाश्रम में जो व्याख्यान दिया था उसका सारांश नीचे दिया जा रहा है। गान्धी जी से व्याख्यान देने के लिए प्रार्थना करते हुए युवक संघ के प्रमुख डॉ० हरिप्रसाद ने कहा था :—टॉलस्टॉय के भाई ने उन्हें जिस अनेक सद्गुणोंवाली हरी छड़ी को खोजने को कहा था उसे वे आजीवन खोजते ही रहे किन्तु प्राप्त न कर सके; अर्थात् वे जिस सिद्धि की तलाश में थे वह उन्हें न मिली।' इस छड़ी के विषय में गान्धी जी ने अपने व्याख्यान में उल्लेख किया है।]

पूर्वजों का श्राद्ध

मेरी वर्तमान मानसिक दशा ऐसी नहीं है कि मैं एक भी पर्व-पुण्यतिथि या एक भी उत्सव मनाने के योग्य रहा होऊँ। कुछ दिनों पहिले 'नवजीवन' या 'यंग इंडिया' के किसी पाठक ने मुझसे प्रश्न पूछा था :—'आप श्राद्ध के विषय में लिखते

महात्मा टाल्स्टाय

दादाभाई नौरोजी

हुए कह चुके हैं कि पुरखों का सच्चा श्राद्ध उनकी पुण्यतिथि के दिवस उनके गुणों का स्मरण करने से और उन्हें अपने जीवन में ओतप्रोत कर लेने से हो सकता है। इसीसे मैं पूछता हूँ कि आप खुद अपने पुरखों की श्राद्धतिथि कैसे मानते हैं ?' पुरखों की श्राद्धतिथि जब मैं जवान था तब मनाया करता था। परन्तु मैं अभी तुम्हें यह कहने में शर्माता नहीं हूँ कि मुझे अपने पूज्य पिता जी की श्राद्धतिथि का स्मरण तक नहीं है। कई वर्ष व्यतीत हो चुके। एक भी श्राद्धतिथि मनाने की याद मुझे नहीं है। यहाँ तक कि मेरी कठिन स्थिति या कहिये कि सुन्दर स्थिति है, अथवा जैसा कि कई एक मित्र मानते हैं मोह की स्थिति है, कि जिस कार्य को सिर पर लिया हो उसीमें चौबीसों घण्टे लगे रहना, उसे मनन करना, और जहाँ तक बन पड़े उसे सुव्यवस्थित रूप से करने में ही सब कुछ आ जाता है। उसी में पुरखों की श्राद्धतिथि का मनाना भी आ जाता है, टॉलस्टॉय जैसों के उत्सव भी आ जाते हैं। यदि डाक्टर हरिप्रसाद ने मुझे जाल में न फँसाया होता तो बिलकुल संभव था कि इस १०वीं तारीख का उत्सव मैं किसी भाँति आश्रम में न मनाया होता। संभव है कि मैं भूल ही गया होता। तीन महीने पहिले एल्मर मॉड एवं टॉलस्टॉय का साहित्य इकट्ठा करने वाले दूसरे सज्जनों के पत्र आये थे कि इस शताब्दि के अवसर पर मैं भी कुछ लिख भेजूँ, और इस दिन की याद हिन्दुस्तान में दिलाऊँ। एल्मर माड के पत्र का सारांश या सारा

पत्र तुमने मेरे अखबारों में देखा होगा। उसके बाद मैं यह बात बिलकुल भूल गया था। यह प्रसंग मेरे लिए एक शुभ अवसर है। फिर भी मैं भूल गया होता तो पश्चात्ताप नहीं करता। परन्तु युवक-संघ के सदस्यों ने यह पुण्यतिथि मनाने का यहाँ जो अवसर दिया यह मेरे लिए आदरणीय है।

मैं धर्मगुरु खोजता हूँ

'दत्तात्रेय की तरह मैंने जगत् में बहुत गुरु किये हैं।' यह कहना मुझे अच्छा लगता अगर अपने बारे में मैं ऐसा कह सकता, किन्तु मेरे विषय में यह बात नहीं है। मैंने तो इससे उलटा ही कहा है कि मैं धर्मगुरु की खोज के लिये प्रयत्न कर रहा हूँ। मेरी यह धारणा है कि धर्मगुरु प्राप्त करने के लिये बहुत बड़ी योग्यता की जरूरत है और यह धारणा दिनों दिन दृढ़ होती जाती है। जो यह योग्यता प्राप्त कर लेता है उसके समीप गुरु चल कर आते हैं। मुझमें यह योग्यता नहीं है। गोखले को मैंने अपना राजनीतिक गुरु कहा है। उन्होंने मुझे उस क्षेत्र के सम्बन्ध में पूरा संतोष दिया था। उनके कहने के विषय में या उनकी आज्ञा के विषय में मुझे कभी तर्कवितर्क नहीं होते थे। किसी धर्मगुरु के विषय में मेरी यह हालत नहीं है।

टॉलस्टॉय का प्रभाव

फिर भी मैं इतना कह सकता हूँ कि तीन पुरुषों ने मेरे जीवन पर बहुत ही बड़ा प्रभाव डाला है। उसमें पहला स्थान

मैं राजचन्द्र कवि को देता हूँ, दूसरा टॉलस्टॉय को, और तीसरा रस्किन को। टॉलस्टॉय और रस्किन के दरम्यान स्पर्धा खड़ी हो और दोनों के जीवन के विषय में मैं अधिक बातें जान लूँ, तो नहीं जानता कि उस हालत में प्रथम स्थान मैं किसे दूँगा। परन्तु अभी तो दूसरा स्थान टॉलस्टॉय को देता हूँ। टॉलस्टॉय के जीवन के विषय में बहुतेरों ने जितना पढ़ा होगा उतना मैंने नहीं पढ़ा है, ऐसा भी कह सकते हैं कि उनके लिखे हुए ग्रन्थों का वाचन भी मेरा बहुत कम है। उनकी पुस्तकों में से जिस किताब का प्रभाव मुझ पर बहुत अधिक पड़ा उसका नाम है 'Kingdom of Heaven is Within You.' उसका अर्थ यह है कि ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में है, उसे बाहर खोजने जाओगे तो वह कहीं न मिलेगा। इसे मैंने चालीस वर्ष पहले पढ़ा था। उस वक्त मेरे विचार कई एक बातों में शंकाशील थे; कई मर्तबा मुझे नास्तिकता के विचार भी आते थे। विलायत जाने के समय तो मैं हिंसक था, हिंसा पर मेरी श्रद्धा थी और अहिंसा पर अश्रद्धा। यह पुस्तक पढ़ने के बाद मेरी यह अश्रद्धा चली गयी। फिर मैंने उनके दूसरे कई एक ग्रन्थ पढ़े। उनमें से प्रत्येक का क्या प्रभाव पड़ा सो मैं नहीं कह सकता, परन्तु उनके समग्र जीवन का क्या प्रभाव पड़ा वह तो कह सकता हूँ।

सत्य और अहिंसा की मूर्त्ति

उनके जीवन में से मैं अपने लिए दो बातें भारी समझता

हूँ। वे जैसा कहते थे वैसा ही करने वाले पुरुष थे। उनकी सादगी अद्भुत थी, बाह्य सादगी तो थी ही। वे अमीर वर्ग के मनुष्य थे, इस जगत के छप्पन भोग उन्होंने भोगे थे। धन-दौलत के विषय में मनुष्य जितनी इच्छा रख सकता है उतना उन्हें मिला था। फिर भी उन्होंने भरी जवानी में अपना ध्येय बदला। दुनिया के विविध रंग देखने पर भी, उनके स्वाद चखने पर भी, जब उन्हें प्रतीत हुआ कि इसमें कुछ नहीं है तो उससे मुँह मोड़ लिया, और अन्त तक अपने विचारों पर पक्के रहे। इसीसे मैंने एक जगह लिखा है कि टॉलस्टॉय इस युग की सत्य की मूर्ति थे। उन्होंने सत्य को जैसा माना वैसा ही पालने का उग्र प्रयत्न किया; सत्य को छिपाने या कमजोर करने का प्रयत्न नहीं किया। लोगों को दुःख होगा या अच्छा लगेगा कि नहीं इसका विचार किये बिना ही उन्हें जिस भाँति जो वस्तु दिखाई दी उसी भाँति कह सुनाई। टॉलस्टॉय अपने युग के लिये अहिंसा के बड़े भारी प्रवर्तक थे। अहिंसा के विषय में पश्चिम के लिये जितना साहित्य टॉलस्टॉय ने लिखा है—जहाँ तक मैं जानता हूँ—उतना हृदय-स्पर्शी साहित्य दूसरे किसी ने नहीं लिखा है। उससे भी आगे जा कर कहता हूँ कि अहिंसा का सूक्ष्म दर्शन जितना टॉलस्टॉय ने किया था और उसका पालन करने का जितना प्रयत्न टॉलस्टॉय ने किया था उतना प्रयत्न करने वाला, आज हिन्दुस्तान में कोई है ऐसे किसी आदमी को मैं नहीं जानता।

अहिंसा के मानी प्रेमसागर

मेरे लिये यह दशा दुःखदायक है, मुझे यह भाती नहीं है। हिन्दुस्तान कर्मभूमि है। हिन्दुस्तान में ऋषिमुनियों ने अहिंसा के क्षेत्र में बड़ी से बड़ी खोजें की हैं। परन्तु हम केवल बुजुर्गों की ही प्राप्त की हुई पूँजी पर नहीं निभ सकते। उसमें यदि वृद्धि न की जाय तो हम उसे खा जाते हैं। इस विषय में न्यायमूर्ति रानडे ने हमें सावधान कर दिया है। वेदादि साहित्य में से या जैन साहित्य में से हम बड़ो बड़ी बातें चाहे जितनी करते रहें अथवा सिद्धांतों के विषय में चाहे जितने प्रमाण देते रहें और दुनिया को आश्चर्यमग्न करते रहें फिर भी दुनिया हमें सच्चा नहीं मान सकती। इसीलिए रानडे ने हमारा धर्म यह बताया है कि हम इस मूलधन में वृद्धि करते जावें। दूसरे धर्म-विचारकों ने जो लिखा हो, उसके साथ मुकाबिला करें, ऐसा करने में कुछ नया मिल जाय या नया प्रकाश मिलना हो तो उसका तिरस्कार न करना चाहिये। किन्तु हमने ऐसा नहीं किया। हमारे धर्माध्यक्षों ने एक पक्ष का ही विचार किया है। उनके पठन, कथन और वर्त्तन में समानता भी नहीं है। प्रजा को अच्छा लगे या नहीं, जिस समाज में वे स्वयं काम करते थे उस समाज को भला लगे या बुरा, फिर भी टॉलस्टॉय के मानिन्द खरी खरी सुना देनेवाले हमारे यहाँ नहीं मिलते। हमारे इस अहिंसा-प्रधान मुल्क की ऐसी दशा दयाजनक है!

हमारी अहिंसा की निंदा ही योग्य है। खटमल, मच्छर, बिच्छू पक्षी और पशुओं को हर किसी तरह से निभाने में ही मानों हमारी अहिंसा पूर्ण हो जाती है। वे प्राणी कष्ट में तड़पते हों, तो उसकी हम परवा नहीं करते; दुःखी होने में यदि स्वयं हिस्सा देते हों तो उसकी भी हमें चिन्ता नहीं। परन्तु दुःखी प्राणी को कोई प्राणमुक्त करे अथवा हम उसमें शरीक हों तो उसमें घोर पाप मानते हैं। ऐसा मैं लिख चुका हूँ कि यह अहिंसा नहीं है। टॉलस्टॉय का स्मरण करते हुए फिर कहता हूँ कि अहिंसा का यह अर्थ नहीं है। अहिंसा के मानी हैं प्रेम का समुद्र; अहिंसा के मानी हैं वैर भाव का सर्वथा त्याग। अहिंसा में दीनता, भीरुता न हो, डर डर के भागना भी न हो। अहिंसा में दृढ़ता, वीरता, निश्चलता होनी चाहिए।

महापुरुष कैसे मापे जाँय ?

यह अहिंसा हिन्दुस्तान में शिक्षित समाज में दिखाई नहीं देती। उनके लिए टॉलस्टॉय का जीवन प्रेरक है। उन्होंने जो वस्तु मान ली, उसका पालन करने में भारी प्रयत्न किया, और उससे कभी डिगे तक नहीं। मैं यह नहीं मानता कि उन्हें वह हरी छड़ी न मिली हो। 'नहीं मिली' यह तो उन्होंने स्वयं कहा है। ऐसा कहना उनको सुहाता था। परन्तु यह मैं नहीं मानता हूँ कि उन्हें वह छड़ी न मिली हो जैसा कि उनके टीकाकार लिखते हैं। मैं यह मान सकता हूँ, यदि कोई कहे कि उन्होंने सब तरह से उस अहिंसा का पालन नहीं किया

जिसका उन्हें दर्शन हुआ था। इस जगत में ऐसा पुरुष कौन है कि जो अपने सिद्धांतों का पूरा अमल कर सका हो? मेरी धारणा है कि देहधारी के लिए संपूर्ण अहिंसा का पालन अशक्य है। जब तक शरीर है तब तक कुछ भी तो अहंभाव रहता ही है। जब तक अहंभाव है शरीर को भी तभी तक धारण करना है ही। इसलिए शरीर के साथ हिंसा भी लगी हुई है। टॉलस्टॉय ने स्वयं कहा है कि जो अपने को आदर्श तक पहुँचा हुआ समझता है उसे नष्टप्राय ही समझना चाहिये। बस यहीं से उसकी अधोगति शुरू होती है। ज्यों ज्यों हम आदर्श के समीप पहुँचते हैं आदर्श दूर भागता जाता है। जैसे जैसे हम उसकी खोज में अग्रसर होते हैं यह मालूम होता है कि अभी तो एक मंजिल और बाकी है। कोई भी जल्दी से मंजिलें तय नहीं कर सकता। ऐसा मानने में हीनता नहीं है, निराशा नहीं है, किन्तु नम्रता अवश्य है। इसीसे हमारे ऋषियों ने कहा है कि मोक्ष तो शून्यता है। मोक्ष चाहने वाले को शून्यता प्राप्त करना है। यह ईश्वर-प्रसाद के बिना नहीं मिल सकती। यह शून्यता जब तक शरीर है आदर्शरूप ही रहती है। इस बात को टॉलस्टॉय ने साफ देख लिया, उसे बुद्धि में अंकित किया, उसको ओर दो डग आगे बढ़े और उसी वक्त उन्हें वह हरी छड़ी मिल गयी। उस छड़ी का वे ध्यान नहीं कर सकते, सिर्फ मिली इतना ही कह सकते हैं। फिर भी अगर कहा होता कि मिली तो उनका जीवन समाप्त हो जाता।

टॉलस्टॉय के जीवन में जो विरोधाभास दीखता है वह टॉलस्टॉय का कलंक या कमजोरी नहीं है किन्तु देखनेवालों की त्रुटि है। एमर्सन ने कहा है कि अविरोध तो छोटे से आदमी का पिशाच है। हमारे जीवन में कभी विरोध आने वाला ही नहीं—अगर यह हम दिखलाना चाहें तो हमें मरा ही समझो। ऐसा करने में अगर कल के कार्य को याद रख कर उसके साथ आज के कार्य का मेल करना पड़े तो कृत्रिम मेल में असत्याचरण हो सकता है। सीधा मार्ग यह है कि जिस वक्त जो सत्य प्रतीत हो उसका आचरण करना चाहिये। यदि हमारी उत्तरोत्तर वृद्धि ही हो जाती हो तो हमारे कार्यों में दूसरों को विरोध दीखे ही तो उससे हमें क्या संबन्ध ? सच तो यह है कि वह हमारा विरोध नहीं है, हमारी उन्नति है। उसी तरह टॉलस्टॉय के जीवन में जो विरोध दीखता है वह विरोध नहीं है किन्तु हमारे मन का विरोधाभास है। मनुष्य अपने हृदय में कितने प्रयत्न करता होगा, राम रावण के युद्ध में कितनी विजयें प्राप्त करता होगा ! उनका ज्ञान उसे स्वयं नहीं होता, देखनेवालों को तो हो ही नहीं सकता। यदि वह कुछ फिसला तो वह जगत् की निगाह में कुछ भी नहीं है, ऐसा प्रतीत होना अच्छा ही है। उसके लिए दुनिया निंदा की पात्र नहीं है। इसीसे तो संतों ने कहा है कि जगत जब हमारी निंदा करे तब हमें आनन्द मानना चाहिए और स्तुति करे तब कॉंप उठना चाहिए। जगत दूसरा नहीं करता; उसे तो जहाँ

मैल दीखा कि वह उसकी निंदा ही करेगा। परंतु महापुरुष के जीवन को देखने बैठें तो मेरी कही हुई बात याद रखनी चाहिए। उसने हृदय में कितने युद्ध किये होंगे और कितनी जीतें प्राप्त की होंगी, इसका गवाह तो प्रभु ही है; यही निष्फलता और सफलता के चिह्न हैं।

दोष का डंक

इतना कह कर मैं यह समझाना नहीं चाहता कि तुम अपने दोषों को छिपाओ या पहाड़ से दोषों को तनिक से गिनो। यह तो मैंने दूसरों के विषय में कहा है। दूसरों के हिमालय से बड़े दोषों को राई सा समझना चाहिए और अपने राई से दोषों को हिमालय के समान बड़ा समझना चाहिए। अपने में अगर जरा सा भी दोष मालूम हो, जाने अनजाने असत्य हो गया हो तो हमें ऐसा होना चाहिए कि अब जल में डूब मरना चाहिए। दिल में आग सुलग जानी चाहिए। सर्प या बिच्छू का डंक तो कुछ नहीं है, उनका जहर उतारने वाले बहुत मिल सकते हैं। परन्तु असत्य और हिंसा के दंश से बचाने वाला कौन है? ईश्वर ही हमें उससे मुक्ति दे सकता है, और हममें अगर पुरुषार्थ हो तभी वह मिल सकती है। इसलिए अपने दोषों के बारे में हम सचेत रहें। वे जितने बड़े देखे जा सकें उन्हें हम देखें। और अगर जगत हमें दोषी ठहरावे तो हम ऐसा न मानें कि जगत कितना कंजूस है कि छोटे से दोष को बड़ा बतलाता है। टॉलस्टॉय को कोई उनका

दोष बतलाता तो वे उसे बड़ा भयङ्कर रूप दे देते थे। गो कि उनका दोष बताने का प्रसंग दूसरे को शायद ही उपस्थित हुआ हो। क्योंकि वे बहुत आत्म-निरीक्षण किया करते थे। दूसरे के बताने के पहले ही वे अपने दोष देख लेते थे। और उसके लिए जिस प्रायश्चित्त की कल्पना उन्होंने स्वयं को होती वह भी वह कर डाले होते। यह साधुता की निशानी है; इसीसे मैं मानता हूँ कि उन्हें वह छड़ी मिली थी।

'ब्रेड लेबर' अथवा यज्ञधर्म

दूसरी एक अद्‌भुत वस्तु का खयाल टॉलस्टॉय ने लिख कर और उसे अपने जीवन में ओतप्रोत करके कहा है। वह वस्तु है 'ब्रेड लेबर'। यह उनकी स्वयं की हुई खोज न थी। किसी दूसरे लेखक ने यह वस्तु रशिया के सर्व संग्रह में लिखी थी। इस लेखक को टॉलस्टॉय ने जगत् के सामने ला रक्खा, और उसकी बात को भी वे प्रकाश में ले आये। जगत में जो असमानता दिखायी पड़ती है, दौलत व कंगालियत नजर आती है, उसका कारण यह है कि हम अपने जीवन का कानून भूल गये हैं। यह कानून 'ब्रेड लेबर' है। गीता के तीसरे अध्याय के आधार पर मैं उसे यज्ञ कहता हूँ। गीता ने कहा है कि बिना यज्ञ किये जो खाता है वह चोर है, पापी है। वही चीज टॉलस्टॉय ने बतलायी है। ब्रेड लेबर का उलटा सुलटा भावार्थ करके हमें उसे उड़ा नहीं देना चाहिये उसका सीधा अर्थ यह है कि जो शरीर नवा कर मजदूरी नहीं करता उसे खाने का अधिकार नहीं है। हम

भोजन के मूल्य के बराबर मिहनत कर डालें तो जो गरीबी जगत में दीखती है वह दूर हो जाय। एक आलसी दो को भूखों मारता है, क्योंकि उसका काम दूसरे को करना पड़ता है। टॉलस्टॉय ने कहा कि लोग परोपकार करने के लिये प्रयत्न करते हैं, उसके लिये पैसे खरचते हैं परन्तु ऐसा न करके थोड़ा सा ही काम करें—अर्थात् दूसरों के कन्धों पर से नीचे उतर जायँ तो बस यही काफी है। और यही सच्ची बात है। यह नम्रता का वचन है। करें तो परोपकार किन्तु अपने ऐशोआराम में से लेश मात्र भी न छोड़ें तो यह वैसाही हुआ जैसा कि अखा भक्त ने कहा है:—'निहाय की चोरी, और सुई का दान'।

बात ऐसी नहीं है कि टॉलस्टॉय ने जो कहा वह दूसरों ने नहीं कहा हो परन्तु उनकी भाषा में चमत्कार था; क्योंकि जो कहा उसका उन्होंने पालन किया। गद्दी तकियों पर बैठनेवाले मजदूरी में जुट गये, आठ घंटे खेती का या दूसरा मजदूरी का काम उन्होंने किया। इससे यह न समझें कि उन्होंने साहित्य का कुछ काम ही नहीं किया था। जब भी उन्होंने शरीर से मिहनत का काम शुरू किया तब तब उनका साहित्य अधिक शोभित हुआ। उन्होंने अपनी पुस्तकों में जिसे सर्वोत्तम कहा है वह है 'कला क्या है'? (What is art) यह उन्होंने इस यज्ञ काल की मजदूरी में से बचते वक्त में लिखा था। मजदूरी से उनका शरीर न घिसा, और ऐसा उन्होंने स्वयं

मान लिया था कि उनकी बुद्धि अधिक तेजस्वी हुई और उनके ग्रन्थों के अभ्यासी कह सकते हैं कि यह बात सच्ची है।

स्वेच्छाचार या संयम

यदि टॉलस्टॉय के जीवन का उपयोग करना हो तो उनके जीवन से उल्लिखित तीन बातें जान लेनी चाहिये। युवकसंघ के सभ्यों को ये वचन कहते हुए मैं उन्हें याद दिलाना चाहता हूँ कि तुम्हारे सामने दो मार्ग हैं :—एक स्वेच्छाचार का और दूसरा संयम का। यदि तुम्हें यह प्रतीत होता हो कि टॉलस्टॉय ने जीना और मरना जाना था तो तुम देख सकते हो कि दुनिया में सब के लिए और विशेषतः युवकों के लिए:—संयम का मार्ग ही सच्चा मार्ग है; हिन्दुस्तान में तो खास तौर पर है ही। 'स्वराज्य' कुछ सरकार से लेने की वस्तु नहीं है। अपनी अवनति के कारणों की जाँच करने पर तुम देख सकोगे कि उसमें सरकार की अपेक्षा हमारा हाथ विशेष है। तुम देखोगे कि स्वराज्य की कुंजी हमारे ही हाथ में है; वह न तो इंग्लैण्ड में है न शिमले में है और न दिल्ली में। वह कुञ्जी तुम्हारी और मेरी जेब में है। हमारे समाज की अधोगति और मंदता को दूर करने में शिथिलता भरी पड़ी है। यदि इसे निकाल दें तो जगत् में ऐसी कोई भी सत्ता नहीं है कि जो हमको अपनी उन्नति करने से, स्वराज प्राप्त करने से रोक सके। अपने मार्ग में हम स्वयं रोड़े डालते हैं और फिर आगे बढ़ने से इन्कार करते हैं। युवकसंघ के सभ्यों से मैं कहता हूँ

कि यह समय तुम्हारे लिये सुन्दर समय है, दूसरे तरीके से कहूँ तो यह विषमकाल है। तीसरी रीति से यदि कहूँ तो यह परीक्षा का समय है। विश्वविद्यालय की परीक्षा देकर यदि कोई पदवी ले ले तो वही काफी नहीं है। जगत की परीक्षा और ठोकरों में से जब पास हो जाओ तभी तुम्हें सच्ची पदवी मिली मानी जा सकती है। तुम्हारे लिए यह संधिकाल है; सुवर्णकाल है। उसमें तुम्हारे सामने दो मार्ग हैं। यदि एक उत्तर को जाता है तो दूसरा दक्षिण को; एक पूर्व जाता है तो दूसरा पश्चिम जाता है। इनमें से तुम्हें एक पसंद करना है। उसमें से कौनसा पसंद करोगे, यह तुम्हें विचारना होगा। देश में पश्चिम से तरह तरह की हवाएँ—मेरी दृष्टि में जहरी हवाएँ—आती हैं, टॉलस्टॉय के जीवन के समान सुन्दर हवा भी आती है सही। परन्तु वह प्रत्येक स्टीमर में थोड़े ही आती है? प्रत्येक स्टीमर में कहो या प्रति दिन कहो। कारण कि प्रति दिन कोई न कोई स्टीमर बम्बई या कलकत्ते के बन्दरगाह में आता ही है। दूसरे परदेशी सामान के समान उसमें परदेशी साहित्य भी आता है। उनमें के विचार मनुष्य को चकनाचूर करनेवाले होते हैं, स्वेच्छाचार की तरफ ले जानेवाले होते हैं। यह बिलकुल सही मानना। यह अभिमान करना ही नहीं कि तुमने जो विचार किये हैं; या जो किताबें अर्धदग्ध हालत में पढ़ी हैं और उसमें से जो समझा है वही सच्चा है, जो प्राचीन है वह अवश्य जंगली है, और जो नई नई खोजें हुई हैं वे सब सच्ची हैं। यदि तुम इस

अहंकार में हो तो मैं यह कल्पना ही नहीं कर सकता कि तुम इस संघ की शोभा बढ़ावोगे। सरलादेवी से तुमने नम्रता, सभ्यता, मर्यादा, पवित्रता सीखी है। अगर यह आशा अभी तक सच्ची न कर दिखलायी हो तो आयन्दा कर दिखलाना। तुमने कई एक अच्छे काम किये हैं। उनकी प्रशंसा से फूल मत उठना। प्रशंसा से दूर भागते रहना। ऐसा न मानना कि 'हमने बहुत कुछ कर डाला।' बारडोली के लिए यदि तुमने पैसे इकट्ठे किये, पसीना बहाया, दो चार व्यक्ति जेल में गये तो, मैं एक अनुभवी की हैसियत से कहता हूँ कि उसमें तुमने क्या किया है? कुछ किया है यह चाहे दूसरे भले ही कहें किन्तु तुम इतने में सन्तोष न मानना। तुम्हें अंतर जीवन सुधारना है; अंतरात्मा से सच्चा प्रमाण-पत्र प्राप्त करना है। वास्तव में हमारी आत्मा भी सोयी हुई है। तिलक महाराज कह गये हैं कि हमारे यहाँ 'कॉन्श्यन्स' का पर्यायवाची शब्द नहीं है। हम यह नहीं मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के 'कॉन्श्यन्स' होता है। पश्चिम में यह बात मानते हैं। व्यभिचारी के लिये, लंपट के लिए 'कॉन्श्यन्स' क्या हो सकता है? इसीलिए तिलक महाराज ने कॉन्श्यन्स की जड़ ही उड़ा दी। हमारे ऋषि मुनियों ने कहा है कि अंतर्नाद सुनने के लिये अंतर्कर्ण भी चाहिए, अंतश्चक्षु चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिये संयम की आवश्यकता है। इसलिये पातंजल योगदर्शन में योगाभ्यास करने वालों के लिए आत्मदर्शन की इच्छा रखनेवालों के लिये

पहला पाठ यम नियम पालन करने का बताया है। सिवाय संयम के मेरे तुम्हारे या अन्य किसी के पास कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है। यही टॉलस्टॉय ने अपने लम्बे जीवन में संयमी रह कर बताया। मैं चाहता हूँ, प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि यह चीज हम उसी तरह साफ देख सकें जैसे कि आँखों के आगे का दीया स्पष्ट देखते हैं और आज एकत्र हुए हैं तो ऐसा निश्चय कर के यहाँ से हटें कि टॉलस्टॉय के जीवन में से हम संयम की साधना करने वाले हैं।

रत्नत्रय

निश्चय कर लो कि हम सत्य की आराधना छोड़ने वाले नहीं हैं। सत्य के लिए दुनिया में सच्ची अहिंसा ही धर्म है। अहिंसा प्रेम का सागर है। उसका नाम जगत् में कोई ले ही नहीं सका। उस प्रेमसागर से हम सराबोर भर जायँ तो हममें ऐसी उदारता आ सकती है कि उसमें सारी दुनिया को हम विलीन कर सकते हैं। यह बात कठिन अवश्य है किन्तु है साध्य ही। इसीसे हमने प्रारंभ में प्रार्थना में सुना कि शंकर हों या विष्णु, ब्रह्मा हों या इन्द्र, बुद्ध हों या सिद्ध, मेरा सिर तो उसीके आगे झुकेगा जो रागद्वेष रहित हो, जिसने काम को जीता हो, जो अहिंसा—प्रेम—की प्रतिमा हो। यह अहिंसा लूले लंगड़े प्राणियों को न मारने ही में समाप्त नहीं होती। उसमें धर्म हो सकता है, परन्तु प्रेम तो उससे भी अनंत गुना आगे बढ़ा हुआ है। उसके दर्शन जिसको नहीं हुए वह लूले

लँगड़े प्राणियों को बचावे तो उससे क्या होना जाना था ? ईश्वर के दरबार में उसकी कीमत बहुत कम कूती जायगी। तीसरी बात है 'ब्रेड लेबर'—यज्ञ। शरीर को कष्ट दे कर मिहनत करके ही खाने का हमें अधिकार है। परमार्थिक दृष्टि से किया हुआ काम यज्ञ है। मजदूरी करके भी सेवा के हेतु जीना है। लम्पट होने को या दुनिया के भोगों का उपभोग करने को जीवित रहना नहीं कहते हैं। कोई कसरतबाज नौजवान आठ घण्टे कसरत करे तो यह 'ब्रेड लेबर' नहीं है। तुम कसरत करो, शरीर को मजबूत बनाओ तो इसकी मैं अवगणना नहीं करता। परन्तु जो यज्ञ टॉलस्टॉय ने कहा है, गीता के तीसरे अध्याय में जो बताया गया है वह यह नहीं है। जीवन यज्ञ के हेतु है, सेवा के लिए है। जो ऐसा समझेगा वह भोगों को कम करता जावेगा। इस आदर्श साधन में ही पुरुषार्थ है। भले ही इस वस्तु को किसी ने सर्वांश में प्राप्त न किया हो, भले ही वह दूर ही दूर रहे। किन्तु फरहाद ने जिस तरह शीरीं के लिए पत्थर फोड़े उसी तरह हम भी पत्थर तोड़ें। हमारी यह शीरीं अहिंसा है। उसमें हमारा छोटा सा स्वराज्य तो शामिल है ही, बल्कि उसमें तो सभी कुछ समाया है।

राजचन्द्र भाई

डाक्टर मेहता ने अपने घर के जिन लोगों से परिचय कराया, उनमें से एक का जिक्र यहाँ किये बिना नहीं रह सकता। उनके भाई रेवाशंकर जगजीवन के साथ तो जीवन भर के लिए स्नेह-गाँठ बँध गई। परन्तु जिनकी बात मैं कहना चाहता हूँ वे तो हैं कवि रायचन्द्र अथवा राजचन्द्र। वह डाक्टर साहब के बड़े भाई के दामाद थे और रेवाशंकर जगजीवन की दूकान के भागीदार तथा कार्यकर्त्ता थे। उनकी अवस्था उस समय २५ वर्ष से अधिक न थी। फिर भी पहली ही मुलाक़ात में मैंने यह देख लिया कि वह चरित्रवान् और ज्ञानी थे। वह शतावधानी माने जाते थे। डाक्टर मेहता ने मुझसे कहा कि इनके शतावधान का नमूना देखना। मैंने अपने भाषा-ज्ञान का भंडार ख़ाली कर दिया और कवि जी ने मेरे कहे तमाम शब्दों को उसी नियम से कह सुनाया, जिस नियम से मैंने कहा था। इस सामर्थ्य पर मुझे ईर्ष्या तो हुई; किन्तु उस पर मैं मुग्ध न हो पाया। जिस चीज़ पर मुग्ध हुआ उसका परिचय तो मुझे पीछे जाकर हुआ। वह था उनका विशाल शास्त्र-ज्ञान, उनका निर्मल चरित्र और आत्म-दर्शन करने की उनकी भारी उत्कण्ठा। मैंने आगे चल कर जाना कि केवल आत्मदर्शन करने के लिए वह अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे।

हसतां रमतां प्रकट हरि देखूँ रे,
मारुं जीव्युं सफल तव लेखूँ रे'
मुक्तानद नो नाथ विहारी रे,
ओधा जीवन दोरी अमारी रे।*

मुक्तानन्द का यह वचन उनकी ज़बान पर तो रहता ही था; पर उनके हृदय में भी अंकित हो रहा था।

खुद हज़ारों का व्यापार करते, हीरे-मोती की परख करते, व्यापार की गुत्थियाँ सुलझाते, पर वे बातें उनका विषय न थीं। उनका विषय—उनका पुरुषार्थ—तो आत्म-साक्षात्कार—हरि-दर्शन था। दूकान पर और कोई चीज़ हो या न हो, एक न एक धर्म-पुस्तक और डायरी ज़रूर रहा करती। व्यापार की बात जहाँ खतम हुई कि धर्म-पुस्तक खुलती अथवा रोज़नामचे पर कलम चलने लगती। उनके लेखों का संग्रह गुजराती में प्रकाशित हुआ है और उसका अधिकांश इस रोज़नामचे के आधार पर लिखा गया है। जो मनुष्य लाखों के सौदे की बात करके तुरन्त आत्म-ज्ञान की गूढ़ बातें लिखने बैठ जाता है वह व्यापारी की श्रेणी का नहीं, बल्कि शुद्ध ज्ञानी की कोटि का है। उनके संबंध में यह अनुभव मुझे एक बार नहीं अनेक बार हुआ है। मैंने उन्हें कभी मूर्च्छित—ग़ाफ़िल—नहीं पाया।

---

*भावार्थ—मैं अपना जीवन तभी सफल समझूँगा, जब हँसते-खेलते ईश्वर को अपने सामने देखूँगा। निश्चय-पूर्वक यही मुक्तानन्द का जीवन सूत्र है।

मेरे साथ उनका कुछ स्वार्थ न था। मैं उनके बहुत निकट समागम में आया हूँ। मैं उस वक्त एक ठलुआ बैरिस्टर था। पर जब मैं उनकी दूकान पर पहुँच जाता तो वह धर्मवार्त्ता के सिवा दूसरी बातें न करते। इस समय तक मैं अपने जीवन का मार्ग न देख पाता था; यह भी नहीं कह सकते कि धर्म-वार्ताओं में मेरा मन लगता था। फिर भी मैं कह सकता हूँ कि राजचंद्र भाई की धर्म-वार्ता मैं चाव से सुनता था। उसके बाद कितने ही धर्माचार्यों के सम्पर्क में मैं आया हूँ। प्रत्येक धर्म के आचार्यों से मिलने का मैंने प्रयत्न किया है; पर जो छाप मेरे दिल पर राजचन्द्र भाई की पड़ी, वह किसी की न पड़ सकी। उनकी कितनी ही बातें मेरे ठेठ अन्तस्तल तक पहुँच जातीं। उनकी बुद्धि को मैं आदर की दृष्टि से देखता था। उनकी प्रामाणिकता पर भी मेरा उतना ही आदर भाव था। और इससे मैं जानता था कि वह मुझे जान बूझ कर उलटे रास्ते नहीं ले जायँगे एवं मुझे वही बात कहेंगे जिसे वह अपने जी में ठीक समझते होंगे। इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयों में उनकी सहायता लेता।

राजचंद्र भाई के प्रति इतना आदर भाव रखते हुए भी मैं उन्हें धर्मगुरु का स्थान अपने हृदय में न दे सका। धर्मगुरु की तो खोज मेरी अब तक चल रही है।

हिन्दू धर्म में गुरु-पद को जो महत्व दिया गया है, उसे मैं मानता हूँ। 'गुरु बिन होत न ज्ञान' यह वचन बहुतांश में

सच है। अक्षर-ज्ञान देनेवाला शिक्षक यदि अधकचरा हो तो एक बार काम चल सकता है। परन्तु आत्मदर्शन कराने वाले अधूरे शिक्षक से काम हरगिज नहीं चलाया जा सकता। गुरु-पद तो पूर्ण ज्ञानी को ही दिया जा सकता है। सफलता गुरु की खोज में ही है! क्योंकि गुरु शिष्य की योग्यता के अनुसार ही मिला करते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक साधक को योग्यता-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का पूरा पूरा अधिकार है। इस प्रयत्न का फल ईश्वराधीन है।

इसीलिए राजचंद्र भाई को मैं यद्यपि अपने हृदय का स्वामी न बना सका। तथापि हम आगे चल कर देखेंगे कि उनका सहारा मुझे समय समय पर कैसा मिलता रहा है। यहाँ तो इतना ही कहना बस होगा कि मेरे जीवन पर गहरा असर डालने वाले तीन आधुनिक मनुष्य हैं। राजचंद्र भाई ने अपने सजीव संसर्ग से, टाल्स्टाय ने 'वैकुण्ठ तुम्हारे हृदय में है।' नामक पुस्तक द्वारा तथा रस्किन ने 'अनटु दिस लास्ट—'सर्वोदय' नामक पुस्तक से मुझे चकित कर दिया है।

दादाभाई शताब्दि

हम दादाभाई को भारत का पितामह कहते थे। दादाभाई ने अपना सारा जीवन भारत को अर्पण कर दिया था। उन्होंने भारत की सेवा को एक धर्म बना डाला था। स्वराज्य शब्द

उन्हीं से हमें मिला है। वे भारत के गरीबों के मित्र थे। भारत की दरिद्रता का दर्शन पहले पहल दादाभाई ने ही हमें कराया था। उनके तैयार किये अंकों को आज तक कोई गलत साबित न कर पाया। दादाभाई हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई किसी में भेद भाव न रखते थे। उनकी दृष्टि से वे सब भारत की सन्तान थे। और इसीलिए सब समान-रूप से उनकी सेवा के पात्र थे। उनका यह स्वभाव उनकी दो पोतियों में सोलहों आना दिखाई पड़ता है।

इस महान भारत सेवक की शताब्दि हम किस तरह मनावें? सभायें तो होंगी ही; वह भी अकेले शहरों में नहीं, बल्कि देहात में भी, जहाँ जहाँ तक महासभा की आवाज़ पहुँचती है। हाँ सब जगह। वहाँ करेंगे क्या? उनकी स्तुति? यदि यही करना हो तो फिर भाट चारणों को बुलाकर उनकी कल्पना-शक्ति का तथा उनकी वाणी के प्रवाह का उपयोग करके क्यों न बैठ रहें? पर यदि हम उनके गुणों का अनुकरण करना चाहते हों तो हमें उनकी छान-बीन करनी होगी और अपनी अनुकरण-क्षमता की नाप निकालनी होगी।

दादाभाई ने भारत की दरिद्रता देखी। उन्होंने हमें सिखाया कि 'स्वराज्य' उसकी औषधि है। परन्तु स्वराज्य प्राप्त करने की कुंजी तलाश करने का काम वह हमारे जिम्मे छोड़ गये। दादाभाई की पूजा का मुख्य कारण उनकी देशभक्ति थी और उस भक्ति में वे बड़े लीन हो गये थे।

हम जानते हैं कि स्वराज्य प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन चरखा है। भारत की दरिद्रता का कारण है भारत के किसानों का साल में छः या चार मास तक बेकार रहना। और यदि यह अनिवार्य बेकारी ऐच्छिक हो जाय अर्थात् काहिली हमारा स्वभाव बन बैठे तो फिर इस देश की मुक्ति का कोई ठिकाना नहीं। यही नहीं, बल्कि सर्वनाश इसका निश्चित भविष्य है। इस काहिली को भगाने का एक ही उपाय है—चरखा। अतएव चरखा-कार्य को प्रोत्साहित करने वाला हर एक कार्य दादाभाई के गुणों का अनुकरण है?

चरखे का अर्थ है खादी; चरखे का अर्थ है विदेशी कपड़े का बहिष्कार; चरखे का अर्थ है गरीबों के झोपड़ों में ६० करोड़ रुपयों का प्रवेश।

अखिल—भारत-देशबन्धु स्मारक के लिये भी चरखा ही तजवीज हुआ है। अतएव इस कोष के लिये उस दिन द्रव्य एकत्र करना मानों दादाभाई की जयन्ती ही मनाना है। इसलिए उस दिन एकत्र होकर लोग विदेशी कपड़ों का सर्वथा त्याग करें, सिर्फ हाथ कते सूत की खादी पहनें निरन्तर कम से कम आधा घंटा सूत कातने का निश्चय दृढ़ करें और खादी प्रचार के लिए धन एकत्र करें। कपास पैदा करनेवाले अपनी जरूरत का कपास घर में रख लें।

परन्तु जिसे चरखे का नाम ही पसन्द न हो वह क्या करे? उसके लिये मैं क्या उपाय बताऊँ? जिसे स्वराज्य का

नाम तक न सुहाता हो उसे मैं शताब्दी मनाने का क्या उपाय सुझाऊँ? उसे अपने लिये खुद ही कोई उपाय खोज लेना चाहिए। मेरी सूचना सार्वजनिक है। यही हो भी सकता है। दादाभाई के अन्य गुणों की खोज करके कोई उनका अनुकरण करना चाहे तो जुदी बात है। वैसे दूसरे तरीके से जयन्ती मानने का उसे हक़ है। अथवा फर्ज कीजिए शहरों में स्वराज्य-वादी खास बात करना चाहे तो वह अवश्य करे। मैं तो सिर्फ वही बात बता सकता हूँ जिसे क्या शहराती और क्या देहाती, क्या वृद्ध और क्या बालक, क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सब कर सकते हों।

यदि हम लोग मेरी तजवीज के अनुसार ही दादाभाई जयन्ती मनाना चाहते हों तो हमें आज से ही तैयारी करनी चाहिए। आज से हम उसके लिए चरखा चलाने लग जायँ। आज ही से हम उसके निमित खादी उत्पन्न करें और ऐसी सभायें स्थान स्थान पर करें जो हमें तथा देश को शोभा दें।

लोकमान्य

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक अब संसार में नहीं हैं। यह विश्वास करना कठिन मालूम होता है कि वे संसार से उठ गये। हम लोगों के समय में ऐसा दूसरा कोई नहीं जिसका जनता पर लोकमान्य के जैसा प्रभाव हो। हजारों देशवासियों

की उन पर जो भक्ति और श्रद्धा थी वह अपूर्व थी। यह अक्षरशः सत्य है कि वे जनता के आराध्य देव थे, प्रतिमा थे; उनके वचन हजारों आदमियों के लिये नियम और कानून-से थे। पुरुषों में पुरुषसिंह संसार से उठ गया। केसरी की घोर गर्जना विलीन हो गई।

देशवासियों पर उनका इतना प्रभाव होने का क्या कारण था? मैं समझता हूँ इस प्रश्न का उत्तर बड़ा ही सहज है। उनकी स्वदेश-भक्ति ही उनकी इन्द्रिय-वृत्ति थी। वे स्वदेश-प्रेम के सिवा दूसरा धर्म नहीं जानते थे।

जन्म से ही वे प्रजासत्तावादी थे। बहुमत की आज्ञा पर इतना अधिक विश्वास करते थे कि मुझे उससे भयभीत होना पड़ता था। पर यही वह बात है जिससे जनता पर उनका इतना अधिक प्रभाव था। स्वदेश के लिये वे जिस इच्छाशक्ति से काम लेते थे वह बड़ी ही प्रबल थी। उनका जीवन वह ग्रन्थ है जिसे खोलने की भी जरूरत नहीं—वह खुला हुआ ग्रन्थ है। उनका खाना-पीना और पहनावा बिल्कुल साधारण था। उनका व्यक्तिगत जीवन बड़ा ही निर्मल और बे-दाग है। उन्होंने अपनी आश्चर्य-जनक बुद्धि-शक्ति को स्वदेश को अर्पण कर दिया था। जितनी स्थिरता और दृढ़ता के साथ लोकमान्य ने स्वराज्य की शुभ वार्ता का उपदेश किया उतना और किसी ने नहीं किया। इसी कारण स्वदेशवासी उन पर अटूट विश्वास रखते थे। साहस ने कभी उनका साथ नहीं छोड़ा। उनकी आशावादिता

गोखले

लोकमान्य तिलक

अदम्य थी। उनको आशा थी कि जीवन-काल में ही मैं सम्पूर्ण रूप से स्वराज्य स्थापित हुआ देख सकूँगा। यदि वे इसे नहीं देख सके तो उनका दोष नहीं है। उन्होंने निस्सन्देह स्वराज्य प्राप्ति की अवधि बहुत कम कर दी है। यह अब हम लोगों के लिये है जो अभी तक जी रहे हैं कि अपने द्विगुणित उद्योग से उसको जहाँ तक शीघ्र हो सत्य कर दिखावें।

लोकमान्य अधिकारी-वर्ग या अङ्गरेजी राज्य से घृणा नहीं करते थे। मैं अँगरेजों को ऐसी भूल धारण करने से मना करता हूँ कि लोकमान्य अँगरेजों के शत्रु थे।

कलकत्ता-कांग्रेस के समय हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने के सम्बन्ध में उन्होंने जो कहा था उसे सुनने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ था। वे कांग्रेस-पण्डाल से तुरंत ही लौटे थे। हिन्दी के सम्बन्ध में उन्होंने अपने शान्त भाषण में जो कहा उससे बड़ी तृप्ति हुई। भाषण में आपने देशी भाषाओं पर खयाल रखने के कारण अँगरेजों को बड़ी प्रशंसा की थी। विलायत जाने पर, यद्यपि आपको अँगरेज जूररों के विषय में बुरा ही अनुभव हुआ तथापि आपका ब्रिटिश प्रजासत्ता में बड़ा ही दृढ़ विश्वास हो गया। आपने यहाँ तक कहा था कि पंजाब के अत्याचारों का चित्र "सिनेमेटोग्राफ" यन्त्र द्वारा ब्रिटिश प्रजासत्तावादियों को दिखाना चाहिए। मैंने यहाँ इस बात का उल्लेख इसी लिये नहीं किया कि मैं भी ब्रिटिश प्रजासत्ता पर विश्वास रखता हूँ (जो मैं नहीं रखता), पर यहाँ दिखाने के लिये कि वे

अँगरेज जाति के प्रति घृणा का भाव नहीं रखते थे। पर वे भारत और साम्राज्य की अवस्था को इस पिछड़ी अवस्था में न तो रखना ही चाहते थे और न रख सकते थे।

वे चाहते थे कि शीघ्र ही भारत में समानता का भाव रक्खा जाय और इसे वे देश का जन्म-सिद्ध अधिकार समझते थे। भारत की स्वतन्त्रता के लिये उन्होंने जो लड़ाई की उसमें सरकार को छोड़ नहीं दिया। स्वतन्त्रता के इस युद्ध में उन्होंने न तो किसी की मुरव्वत की और न किसी की प्रतीक्षा ही की। मुझे आशा है अँगरेज लोग उस महापुरुष को पहचानेंगे जिनकी भारत पूजा करता था।

भारत की भावी सन्तति के हृदय में भी यही भाव बना रहेगा कि लोकमान्य नवीन भारत के बनानेवाले थे। वे तिलक महाराज का सम्मान यह कह कर स्मरण करेंगे कि एक पुरुष था जो हमारे लिये ही जन्मा और हमारे लिये ही मरा। ऐसे महापुरुष को मरना कहना ईश्वर की निन्दा करना है। उनका स्थायी तत्त्व सदा के लिये हम लोगों में व्याप्त हो गया। आओ हम भारत के एक मात्र लोकमान्य का अविनाशी स्मारक अपने जीवन में उनके साहस, उनकी सरलता उनके आश्चर्य-जनक उद्योग और उनकी स्वदेश-भक्ति को सीखकर बनावें। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

*पुण्यतिथि का रहस्य

आपका यही सवाल न है कि लोग 'शठं प्रति शाठ्यम्' को तिलक महाराज का सिद्धान्त मानते हैं, और हमें उनके जीवन में इस सिद्धान्त की प्रतीति कहाँ तक होती है ? हम इस प्रश्न में से बहुत अधिक सार ग्रहण नहीं कर सकते। हाँ, इस बारे में तिलक महाराज के साथ मेरा कुछ दिनों तक पत्र-व्यवहार हुआ था। उनके जीवन के नम्र विद्यार्थी और गुणों के एक पुजारी के नाते मैं कह सकता हूँ कि तिलक महाराज में विनोद की शक्ति थी। विनोद के लिए अंग्रेजी में 'ह्यूमर' शब्द है। अबतक हम इस अर्थ में 'विनोद' का उपयोग नहीं करने लगे हैं, इसी से अंग्रेजी शब्द देकर अर्थ समझाना पड़ता है। अगर लोकमान्य में यह विनोद-शक्ति न होती तो वह पागल हो जाते—राष्ट्र का इतना बोझ वह उठाते थे। लेकिन अपनी विनोद-प्रियता के कारण वह स्वयं अपनी रक्षा तो कर ही लेते थे, दूसरों को भी विषम स्थिति में से बचा लेते थे। दूसरे, मैंने यह देखा है कि वादविवाद करते समय वह कभी-कभी जान-बूझ कर अतिशयोक्ति से भी काम ले लेते थे। प्रस्तुत प्रश्न के सम्बन्ध में मेरा उनका जो पत्र-व्यवहार हुआ था, वह मुझे ठीक-ठीक याद नहीं; आप उसे देख लें। 'शठं प्रति शाठ्यम्'

---

* लोकमान्य की पुण्यतिथि के दिन गांधी जी ने यह भाषण गुजरात-विद्यापीठ में दिया था।

तिलक महाराज का जीवन-मंत्र न था; अगर ऐसा होता तो वह इतनी लोकप्रियता प्राप्त न कर सकते। मेरी जान में, संसार-भर में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, जिसमें किसी मनुष्य ने इस सिद्धान्त पर अपना जीवन-निर्माण किया हो और फिर भी वह लोकमान्य बन सका हो। यह सच है कि इस बारे में जितना गहरा मैं पैठता हूँ, वह नहीं पैठते थे—हम शठ के प्रति शाठ्य का कदापि उपयोग कर ही नहीं सकते। 'गीता रहस्य' में एक-दो स्थानों में—सिर्फ एक ही दो स्थानों में—इस बात का थोड़ा समर्थन मिलता जरूर है। लोकमान्य मानते थे कि राष्ट्रहित के लिए अगर कभी शाठ्य से—दूसरे शब्दों में, 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त से काम लेना पड़े तो ले सकते हैं।। साथ ही वह यह भी मानते तो थे ही कि शठ के सामने भी सत्य का प्रयोग करना अच्छा है, यही सत्य सिद्धान्त है; मगर इस सम्बन्ध में वह कहा करते कि साधु लोग ही इस सिद्धान्त पर अमल कर सकते हैं। तिलक महाराज की व्याख्या के मुताबिक साधु लोगों से अर्थ वैरागियों का नहीं; बल्कि उन लोगों से होता है जो दुनिया से अलिप्त रहते हैं; दुनियादारी के कामों में भाग नहीं लेते। इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि अगर कोई दुनिया में रह कर इस सिद्धान्त का पालन करे तो अनुचित होगा-हाँ, वह न कर सके यह दूसरी बात है—वह मानते थे कि शाठ्य का उपयोग करने का उसे अधिकार है।

लेकिन अगर ऐसे महान् पुरुष के जीवन का मूल्य ठहराने

का हमें कोई अधिकार हो, तो हम विवादास्पद बातों से उसका मूल्य न ठहरावें। लोकमान्य का जीवन भारत के लिए, विश्व समस्त के लिए एक बहुमूल्य विरासत है। उसकी पूरी कीमत तो भविष्य में ठहरेगी। इतिहास ही उसकी कीमत का अन्दाजा लगावेगा, वही लगा सकता है। जीवित मनुष्य का ठीक-ठीक मूल्य, उसका सच्चा महत्त्व, उसके समकालीन कभी ठहरा ही नहीं सकते; उनसे कुछ न कुछ पक्षपात तो हो ही जाता है, क्योंकि रागद्वेष-पूर्ण लोग ही इस काम के कर्त्ता भी होते हैं। सच पूछा जाय तो इतिहासकार भी रागद्वेष-रहित नहीं पाये जाते। गिबन प्रामाणिक इतिहासकार माना जाता है, मगर मैं तो उसके पृष्ठ-पृष्ठ में उसका पक्षपात अनुभव कर सकता हूँ। मनुष्य विशेष या संस्था विशेष के प्रति राग अथवा द्वेष से प्रेरित हो कर उसने बहुतेरी बातें लिखी होंगी। समकालीन व्यक्ति में विशेष पक्षपात होने की सम्भावना रहती है। लोकमान्य के महान् जीवन का उपयोग तो यह है कि हम उनके जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों का सदा स्मरण और अनुकरण करें।

तिलक महाराज का देशप्रेम अटल था। साथ ही उनमें तीक्ष्ण न्याय वृत्ति भी थी। इस गुण का परिचय मुझे अनायास था। १९१७ की कलकत्ता-महासभा के दिनों में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की सभा में भी वह आये थे। महासभा के काम से उन्हें फुर्सत तो कैसे हो सकती थी? फिर भी वह आये और भाषण करके चले गये। मैंने वहीं देखा कि राष्ट्रभाषा हिन्दी

के प्रति उनमें कितना प्रेम था। मगर इससे भी बढ़ कर जो बात मैंने उनमें देखी, वह थी अंग्रेजों के प्रति की उनकी न्याय-वृत्ति। उन्होंने अपना भाषण ही यों शुरू किया था: 'मैं अंग्रेजी शासन की खूब निन्दा करता हूँ, फिर भी अंग्रेज विद्वानों ने हमारी भाषा की जो सेवा की है, उसे हम भुला नहीं सकते, उनका आधा भाषण इन्हीं बातों से भरा था। आखिर उन्होंने कहा था कि अगर हमें राष्ट्रभाषा के क्षेत्र को जोतना और उसकी वृद्धि करनी हो तो हमें भी अंग्रेज विद्वानों की भाँति ही परिश्रम और अभ्यास करना चाहिए। हमारी लिपि की रक्षा और हमारे व्याकरण की व्यवस्था के लिए हम एक बड़ी हद तक अंग्रेज विद्वानों के आभारी हैं। जो पादरी आरम्भ में आये थे उनमें परभाषा के लिए प्रेम था। गुजराती में टेलर-कृत व्याकरण कोई साधारण वस्तु नहीं है। लोकमान्य ने इस बात का विचार भी नहीं किया कि अंग्रेजों की स्तुति करने से मेरी लोकप्रियता घटेगी। लोगों का तो यही विश्वास था कि वह अंग्रेजों की निन्दा ही कर सकते हैं।

तिलक महाराज में जो त्यागवृत्ति थी, उसका सौवाँ या हजारवाँ भाग भी हम अपने में नहीं बता सकते। और उनकी सादगी? उनके कमरे में न तो किसी तरह का फर्नीचर होता था न कोई खास सजावट। अपरिचित आदमी तो खयाल भी नहीं कर सकता था कि यह किसी महान् पुरुष का निवासस्थान है। रगरग में भिदी हुई उनकी इस सादगी का हम अनुकरण करें।

तो कैसा हो ? । उनका धैर्य तो अद्भुत था ही। अपने कर्त्तव्य में वह सदा अटल रहते और उसे कभी भूलते ही न थे। धर्मपत्नी की मृत्यु का संवाद पाने पर भी उनकी कलम चलती ही रही।* हम एक ओर तो खूब भोग भोगना चाहते हैं, और दूसरी ओर स्वराज्य भी लेना चाहते हैं। ये दोनों बात परस्पर विरोधी हैं। इन दिनों देश में पाखण्ड, स्वच्छन्दता और स्वेच्छाचार का बाजार गर्म है। अगर हम स्वराज्य लेना चाहते हों तो स्वराज्य ही हमारा ध्यान-मंत्र होना चाहिए, स्वेच्छाचार कदापि नहीं। क्या हम तिलक महाराज के जीवन का एक भी ऐसा क्षण बतला सकते हैं जो भोगविलास में बीता हो ? उनमें जबर्दस्त सहिष्णुता थी। यानी वह चाहे जैसे—उद्दण्ड से उद्दण्ड—आदमी से भी काम करवा लेते थे। लोकनायक में यह शक्ति होनी चाहिए। इससे कोई हानि नहीं होती ! अगर हम संकुचित हृदय बन जायँ और सोच लें कि फलाँ आदमी से काम लेंगे ही नहीं, तो या तो हमें जंगल में जाकर बस जाना चाहिए या घर बैठे-बैठे गृहस्थ का जीवन बिताना चाहिए। इसमें शर्त यही है कि हम खुद अलिप्त रह सकें।

---

*इसी सिलसिले में हमें इससे भी अधिक अद्भुत एक प्रसंग याद हो आता है। शिवाजी की राजधानी रायगढ़ में लोकमान्य पहली बार शिवाजी उत्सव मनाने गये थे। घर पर उनके बड़े पुत्र बहुत ही बीमार थे। रायगढ़ पहुँचते ही तार मिला। लोकमान्य ने उसे वैसा ही जेब में रख लिया। जब उत्सव का काम समाप्त हो गया तब तार निकाला और पढ़ा।

मुँह से तिलक महाराज का बखान करके ही हम चुप न हो बैठें। काम, काम और काम ही हमारा जीवन-सूत्र होना चाहिए। जब कि हम स्वराज्य-यज्ञ को चालू रखना चाहते हैं, हमें चाहिए कि हम निकम्मे साहित्य का पढ़ना बन्द कर दें, निरर्थक बातें करना छोड़ दें और अपने जीवन का एक-एक क्षण स्वराज्य के काम में बिताने लगें। आप पूछेंगे कि क्या पढ़ाई छोड़कर यह काम करें? १९२१ में भी विद्यार्थियों के साथ मेरा यही झगड़ा था। तिलक महाराज ने क्या किया था? उन्होंने जो बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे, वे बाहर रहकर नहीं, जेल में लिखे थे। 'गीता रहस्य' और 'आर्क्टिक होम' वह जेल में ही लिख सके थे। बड़े-बड़े मौलिक ग्रंथ लिखने की शक्ति होते हुए भी उन्होंने देश के लिए उसका बलिदान किया था। उन्होंने सोचा; 'घर के चारों ओर आग भभक उठी है, इसे जितनी बुझा सकूँ, उतनी तो बुझाऊँ।' उन्होंने अगर हजार घड़े पानी से उसे बुझाई हो हम एक ही घड़ा डालें, मगर डालें तो सही। पढ़ाई आदि आवश्यक होते हुए भी गौण बातें हैं। अगर स्वराज्य के लिए इनका उपयोग होता हो करना चाहिए, अन्यथा इन्हें तिलांजलि देनी चाहिए। इससे न हमारा नुकसान है न संसार का।

तिलक महाराज अपने जीवन द्वारा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण छोड़ गये हैं। जिनके जीवन में से इतनी सारी बातें ग्रहण करने योग्य हों, जिनकी विरासत इतनी जबर्दस्त हो, उनके

सम्बन्ध में उक्त प्रश्न के लिए गुंजाइश ही नहीं रहती है। हमारा धर्म तो गुणग्राही बनने का है।

आज हमें जो काम करना है, वह मुर्दार आदमियों के किये हो नहीं सकता। स्वराज्य का काम कठिन है। भारत में आज एक लहर बह रही है, उसमें खिंचकर हम भाषण करते हैं, धींगाधींगी मचाते हैं, तूफान खड़े करते हैं, मनमाने तौर पर संस्थाओं में घुस जाते हैं और फिर उन्हें नष्ट करते एवं धारासभाओं में जाकर भाषण करते हैं। तिलक महाराज के जीवन में ये बातें हमारे देखने में भी नहीं आतीं। उनके जीवन के जो गुण अनुकरणीय हैं, सो तो मैं ऊपर कह ही चुका हूँ। अगर आप इतना करेंगे तो आपका इस राष्ट्रीय विद्यापीठ में रहकर अध्ययन करना सार्थक होगा, अन्यथा आपके लिए जो खर्च हो रहा है, वह व्यर्थ जायगा। अगर हम कर्त्तव्य कर्म न करें तो इन भाषणों और विद्यार्थियों के निबन्ध वाचन आदि के होते हुए हम जहाँ थे वहीं बने रहेंगे और आज के उत्सव में जो दो घण्टे बीते हैं; वे निरर्थक सिद्ध होंगे। मुझे आशा है, ऐसा न होगा।

गुरुवर महात्मा गोखले

[स्वर्गीय गोखले की गत मृत्यु-तिथि के उपलक्ष में उनके भाषणों तथा लेखों का गुजराती में एक संग्रह प्रकाशित हुआ

था। उसकी प्रस्तावना महात्मा गाँधी ने लिखी थी, जो इस प्रकार है]—

गोखले की मृत्यु-तिथि के अवसर पर उस स्वर्गस्थ महात्मा के भाषणों तथा लेखों का गुजराती अनुवाद प्रकाशित करने का विचार पहले पहल मेरे ही मन में उत्पन्न हुआ था; इसलिये उसके पहले भाग की प्रस्तावना अधिकांश में मुझको ही लिखना उचित था। हम लोगों ने निश्चय किया है कि हरसाल गोखले की मृत्युतिथि मनावेंगे। भजन, कीर्त्तन, व्याख्यान, और तदनन्तर सभा का विसर्जन—यह हरसाल ही होता है। इससे कालक्षेप तो बहुत होता है, पर उससे कोई वास्तविक लाभ नहीं होता। अतः भाषणों की अपेक्षा कार्य को अधिक महत्त्व देने तथा ऐसे उत्सवों को सर्व-साधारण के लिये सचमुच लाभ-दायक बनाने के लिये गत वर्ष मृत्यु-तिथि के प्रबन्ध-कर्त्ताओं ने इस अवसर पर मातृभाषा में कोई उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करना निश्चित किया था। पुस्तक चुनने में भी देर नहीं लगी। स्वभावतः ही पहली पुस्तक "स्वर्गीय गोखले के भाषणों का संग्रह" पसन्द की गई।

यहाँ तक प्रस्तावना की प्रस्तावना थी। स्व० गोखले के विषय में दो चार शब्द लिखना ही सच्ची प्रस्तावना हो सकती है। परन्तु गुरु के विषय में शिष्य क्या लिखे और कैसे लिखे? उसका लिखना एक प्रकार की धृष्टता मात्र है, सच्चा शिष्य वही है जो गुरु में अपने को लीन कर दे; अर्थात् वह टीकाकार हो ही

नहीं सकता। जो भक्ति दोष देखती हो वह सच्ची भक्ति नहीं और दोष-गुण के पृथक्करण में असमर्थ लेखक द्वारा की हुई गुरु-स्तुति को यदि सर्व-साधारण अंगीकार न करें तो इस पर उसे नाराज होने का अधिकार नहीं हो सकता। शिष्य के आचरणों ही से गुरु की टीका होती है। गोखले राजनीतिक विषयों में मेरे गुरु थे; इस बात को मैं अनेक बार कह चुका हूँ। इस कारण उनके विषय में कुछ लिखने में मैं अपने को असमर्थ समझता हूँ। मैं चाहे जितना लिख जाऊँ, मुझे थोड़ा ही मालूम होगा। मेरे विचार से गुरु-शिष्य का सम्बन्ध शुद्ध आध्यात्मिक सम्बन्ध है। वह अंकशास्त्र के नियमानुसार नहीं होता। कभी कभी वह हमारे बिना जाने भी हो जाता है। उसके होने में एक क्षण से अधिक नहीं लगता, पर एक बार होकर वह फिर टूटना जानता ही नहीं।

१८९६ ई० में पहले पहल हम दोनों व्यक्तियों में यह सम्बन्ध हुआ। उस समय न मुझे उनका खयाल था और न उन्हें मेरा। उसी समय मुझे गुरुजी के भी गुरु लोकमान्य तिलक, सर फिरोजशाह मेहता, जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी, डा० भांडारकर तथा बंगाल और मद्रास प्रान्त के और भी अनेक नेताओं के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं उस समय बिल्कुल नवयुवक था, मुझ पर सबने प्रेम-वृष्टि की। सबके एकत्र दर्शन का वह प्रसंग मुझे कभी न भूलेगा। परन्तु गोखले से मिल कर मेरा हृदय जितना शीतल हुआ उतना औरों से मिलने से नहीं हुआ।

मुझे याद नहीं आता कि गोखले ने मुझ पर औरों की अपेक्षा अधिक प्रेम-वृष्टि की थी। तुलना करने से मैं कह सकता हूँ कि डा० भांडारकर ने मुझ पर जितना अनुराग प्रकट किया उतना और किसी ने नहीं किया। उन्होंने कहा—'यद्यपि मैं आजकल सार्वजनिक कार्यों से अलग रहता हूँ, पर फिर भी केवल तुम्हारी खातिर मैं उस सभा का अध्यक्ष बनना स्वीकार करता हूँ, जो तुम्हारे प्रश्न पर विचार करने के लिये होने वाली है।' यह सब होते हुए भी गोखले ही ने मुझे अपने प्रेम-पाश में आबद्ध किया। उस समय मुझे इस बात का बिल्कुल ज्ञान नहीं हुआ। पर १९०२ वाली कलकत्ते की कांग्रेस में मुझे अपने शिष्य-भाव का पूरा पूरा अनुभव हुआ। उपर्युक्त नेताओं में से अनेक के दर्शनों का उस समय मुझे फिर सौभाग्य प्राप्त हुआ। किन्तु मैंने देखा कि गोखले को मेरी याद बनी हुई थी। देखते ही उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। वे मुझे अपने घर खींच ले गये। मुझे भय था कि विषय-निर्वाचिनी-समिति में मेरी बात न सुनी जायगी। प्रस्तावों की चर्चा शुरू हुई और खतम भी हो गई; पर मुझे अन्त तक यह कहने का साहस न हुआ कि मेरे मन में भी दक्षिण-अफ्रिका-सम्बन्धी एक प्रश्न है। मेरे लिये रात को कौन बैठा रहता? नेतागण काम को जल्दी निपटाने के लिये आतुर हो गये। उनके उठ जाने के डर से मैं काँपने लगा। मुझे गोखले को याद दिलाने का भी साहस न हुआ। इतने में वे स्वयं ही

बोले—"मि० गाँधी भी दक्षिण-अफ्रिका के हिन्दुस्तानियों की दशा के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव किया चाहते हैं, उस पर अवश्य विचार किया जाय।" मेरे आनन्द की सीमा न रही। राष्ट्रसभा के सम्बन्ध में मेरा यह पहला ही अनुभव था, इसलिये उससे स्वीकृत होने वाले प्रस्तावों का मैं बड़ा महत्त्व समझता था। इसके बाद भी उनके दर्शन के कितने ही अवसर उपस्थित हुए और वे सभी पवित्र हैं। पर इस समय जिस बात को मैं उनका महामंत्र मानता हूँ उसका उल्लेख कर इस प्रस्तावना को पूर्ण करना उत्तम होगा।

इस कठिन कलिकाल में किसी विरले ही मनुष्य में शुद्ध धर्म-भाव देख पड़ता है। ऋषि, मुनि, साधु आदि नाम धारण कर भटकते फिरने वालों को इस भाव की प्राप्ति शायद ही कभी होती है। आजकल उनका धर्म-रक्षक पद से च्युत हो जाना सभी लोग देख रहे हैं। यदि एक ही सुन्दर वाक्य में धर्म की पूरी व्याख्या कहीं है तो वह भक्त-शिरोमणि गुजराती कवि नरसिंह मेहता के इस वाक्य में है—

"ज्यां लगी आतमा तत्त्व चीन्यो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व जूठी।"

अर्थात् जब तक आत्मतत्त्व की पहचान न हो तब तक सभी साधनाएँ निरर्थक हैं। यह वचन उसके अनुभव-सागर के मन्थन से निकला हुआ रत्न है। इससे ज्ञात होता है कि महा तपस्वी तथा योगी-जनों में भी (सच्चा) धर्म-भाव होना अनिवार्य नहीं है। गोखले को आत्मतत्त्व का उत्तम ज्ञान था,

इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं। यद्यपि वे सदा ही धार्मिक आडम्बर से दूर रहे, फिर भी उनका सम्पूर्ण जीवन धर्ममय था। भिन्न भिन्न युगों में मोक्ष-मार्ग पर लगाने वाली प्रवृत्तियाँ देखी गई हैं। जब जब धर्म-बन्धन ढीला पड़ता है तब तब कोई एक विशेष प्रवृत्ति धर्म-जागृति में विशेष उपयोगी होती है। यह विशेष प्रवृत्ति उस समय की परिस्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। आजकल हम अपने को राजनीतिक विषयों में अवनत देखते हैं। एकांगी दृष्टि से विचार करने से जान पड़ेगा कि राजनीतिक सुधार से ही अन्य बातों में हम उन्नति कर सकेंगे। यह बात एक प्रकार से सच भी है। राजनीतिक अवस्था के सुधार के बिना उन्नति होना सम्भव नहीं। पर राजनीतिक स्थिति में परिवर्त्तन होने ही से उन्नति न होगी। परिवर्त्तन के साधन यदि दूषित तथा घृणित हुए तो उन्नति के बदले अवनति ही होने की अधिकतर सम्भावना है। जो परिवर्त्तन शुद्ध और पवित्र साधनों से किया जाता है वही हमें उच्च मार्ग पर ले जा सकता है। सार्वजनिक कामों में पड़ते ही गोखले को इस तत्त्व का ज्ञान हो गया था और इसको उन्होंने कार्य में भी परिणत किया। यह बात सभी लोग जानते थे कि यह भव्य विचार उन्होंने अपने भारत-सेवक-समाज तथा सम्पूर्ण जन-समुदाय के सम्मुख रक्खा कि यदि राजनीति को धार्मिक स्वरूप दिया जायगा तो यही मोक्ष-मार्ग पर ले जाने वाली हो जायगी। उन्होंने साफ कह दिया

कि जब तक हमारे राजनीतिक कार्यों को धर्म-भाव की सहायता न मिलेगी तब तक वे सूखे—रस-हीन—ही बने रहेंगे। उनकी मृत्यु पर 'टाइम्स-आफ-इण्डिया' में जो लेख प्रकाशित हुआ था उसके लेखक ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया था और राजनीतिक संन्यासी उत्पन्न करने के उनके प्रयत्न की सफलता पर अविश्वास प्रकट करते हुए उनकी यादगार 'भारत-सेवक-समिति' का ध्यान इसकी ओर आकर्षित किया था। वर्त्तमान काल में राजनीतिक संन्यासी ही संन्यासाश्रम की गौरव-वृद्धि कर सकते हैं। अन्य गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासी उसकी अपकीर्त्ति के ही कारण हैं। शुद्ध धर्म-मार्ग में चलने वाले किसी भारतवासी का राजनीतिक कार्यों से परे रहना कठिन है। उसी बात को मैं दूसरी तरह अंगीकार किये बिना रह ही नहीं सकता। और आजकल की राज्य-व्यवस्था के जाल में हम इस तरह फँस गये हैं कि राजनीति से अलग रहते हुए लोक-सेवा करना सर्वथा असम्भव ही है। पूर्व समय में जो किसान इस बात को जाने बिना भी कि जिस देश में हम बसते हैं उसका अधिकारी कौन है, अपनी जीवन-यात्रा भली भाँति निर्वाह कर लेता था। पर आज वह ऐसा नहीं कर सकता। ऐसी दशा में उसका धर्माचरण राजनीतिक परिस्थिति के अनुसार ही होना चाहिए। यदि हमारे साधु, ऋषि, मुनि, मौलवी और पादरी इस उच्च तत्त्व को स्वीकार कर लें तो जहाँ देखिए वहाँ भारत-सेवक-समितियाँ ही दिखाई देने लगें और

भारत में धर्म-भाव इतना व्यापक हो जाय कि जो राजनीतिक चर्चा आज लोगों को अरुचिकर होती है वही उन्हें पवित्र और प्रिय मालूम होने लगे; फिर पहले ही की तरह भारत-वासी धार्मिक साम्राज्य का उपभोग करने लगें। भारत का बन्धन एक क्षण में दूर हो जाय और वह स्थिति प्रत्यक्ष आँखों के सामने आ जाय, जिसका दर्शन एक प्राचीन कवि ने अपनी अमर वाणी में इस प्रकार किया है—'फौलाद से तलवार बनाने का नहीं, बल्कि (हलकी) फाल बनाने का काम लिया जायगा और सिंह और बकरे साथ साथ विचरण करेंगे'। ऐसी स्थिति उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति ही गुरुवर गोखले का जीवन-मंत्र थी। यही उनका संदेश है। और मुझे विश्वास है कि शुद्ध और सरल मन से विचार करने पर उनके भाषणों के प्रत्येक शब्द में यह मंत्र लक्षित होगा।

महात्मा गोखले का जीवन-संदेश

[बम्बई की 'भगिनी-समाज' नामक संस्था से स्त्रियों के लिये एक सामयिक पुस्तिका प्रकाशित होती है। उसमें महात्मा गाँधी ने निम्न-लिखित लेख लिखा था।]—

यत्करोपि यदश्नासि यज्जुहोपि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था वही उपदेश भारत-माता ने महात्मा गोखले को दिया था और उनके आचरणों

से सूचित होता है कि उन्होंने उसका पालन भी किया है। यह सर्वमान्य बात है कि उन्होंने जो जो किया, जिस जिसका उपभोग किया, जो स्वार्थ-त्याग किया, जिस तप का आचरण किया वह सभी कुछ उन्होंने भारत-माता के चरणों में अर्पण कर दिया।

केवल देश ही के लिये जन्म लेनेवाले इस महात्मा का अपने देश-बन्धुओं के प्रति क्या सन्देश है? 'भारत-सेवक-समाज' के जो सेवक महात्मा गोखले के अन्तिम समय में उनके पास उपस्थित थे उन्हें उन्होंने निम्न-लिखित वाक्य कहे थे।

"(तुम लोग) मेरा जीवन-चरित्र लिखने न बैठना; मेरी मूर्त्ति बनवाने में भी अपना समय मत लगाना। तुम लोग भारत के सच्चे सेवक होगे तो अपने सिद्धान्त के अनुसार आचरण करने अर्थात् भारत की ही सेवा करने में अपनी आयु व्यतीत करोगे।"

सेवा के सम्बन्ध में उनके आन्तरिक विचार हमें मालूम हैं। राष्ट्रीय सभा का कार्य-संचालन, भाषण तथा लेख द्वारा जनता को देश की सच्ची स्थिति का ज्ञान कराना, प्रत्येक भारत-वासी को साक्षर बनाने का प्रयत्न कराना ये सब काम सेवा ही हैं। पर किस उद्देश्य और किस प्रणाली से यह सेवा की जाय? इस प्रश्न का वे जो उत्तर देते वह उनके इस वाक्य से प्रकट होता है। अपनी संस्था (भारत-सेवक-समाज) की नियमावली बनाते हुए उन्होंने लिखा है कि "सेवकों का कर्त्तव्य

भारत के राजनीतिक जीवन को धार्मिक बनाना है" इसी एक वाक्य में सब कुछ भरा हुआ है। उनका जीवन धार्मिक था। मेरा विवेक इस बात का साक्षी है कि उन्होंने जो जो काम किये सब धर्म-भाव ही की प्रेरणा से किये। बीस साल पहले उनका कोई कोई उद्‌गार या कथन नास्तिकों का सा होता था। एक बार उन्होंने कहा था—"क्या ही अच्छा होता यदि मुझमें भी वही श्रद्धा होती, जो रानडे में थी।" पर उस समय भी उनके कार्यों के मूल में उनकी धर्म-बुद्धि अवश्य रहती थी। जिस पुरुष का आचरण साधुओं के सदृश है, जिसकी वृत्ति निर्मल है, जो सत्य की मूर्त्ति है, जो नम्र है, जिसने सर्वथा अहंकार का परित्याग कर दिया है, वह निस्सन्देह धर्मात्मा है। गोखले इसी कोटि के महात्मा थे। यह बात मैं उनके लगभग २० वर्षों की संगति के अनुभव से कह सकता हूँ।

१८९६ में मैंने नेटाल की शर्त्तबन्दी की मजदूरी पर भारत में वाद-विवाद आरम्भ किया। उस समय कलकत्ता, बम्बई, पूना, मद्रास आदि स्थानों के नेताओं से मेरा पहले पहल सम्बन्ध हुआ। उस समय सब लोग जानते थे कि महात्मा गोखले रानडे के शिष्य हैं। फर्ग्यूसन-कालेज को वे अपना जीवन भी अर्पण कर चुके थे। और मैं उस समय एक निरा अनुभव-हीन युवक था। मैं पहले पहल पूने में उनसे मिला। इस पहली ही भेंट में हम लोगों में जितना घनिष्ट सम्बन्ध हो गया उतना और किसी नेता से नहीं हुआ। महात्मा गोखले के विषय में जो

बातें मैंने सुनी थीं वे सब प्रत्यक्ष देखने में आईं। उनकी वह प्रेम-युक्त और हास्यमय मूर्त्ति मुझे कभी न भूलेगी। मुझे उस समय मालूम हुआ कि मानो वे साक्षात् धर्म ही की मूर्त्ति हैं। उस समय मुझे रानडे के भी दर्शन हुए थे। पर उनके हृदय में मैं स्थान न पा सका। मैं उनके विषय में केवल इतना ही जान सका कि वे गोखले के गुरु हैं। अवस्था और अनुभव में वे मुझसे बहुत अधिक बड़े थे; इस कारण अथवा और किसी कारण से मैं रानडे को उतना न जान सका, जितना कि गोखले को मैंने जाना।

१८९६ ई० के अवसर से ही गोखले का राजनीतिक जीवन मेरे लिये आदर्श-स्वरूप हुआ। उसी समय से उन्होंने राजनीतिक गुरु के नाते मेरे हृदय में निवास किया। उन्होंने सार्वजनिक सभा (पूना) की त्रैमासिक पुस्तक का सम्पादन किया। उन्होंने फर्ग्युसन-कालेज में अध्यापन-कार्य करके उसे उन्नत दशा को पहुँचाया। उन्होंने वेल्बी कमीशन के सामने गवाही देकर अपनी वास्तविक योग्यता का प्रमाण दिया; उनकी बुद्धिमत्ता की छाप लार्ड कर्जन पर—उन लार्ड कर्जन पर जो अपने सामने किसी को कुछ न गिनते थे—बैठी और वे उनसे शङ्कित रहने लगे।

उन्होंने बड़े बड़े काम कर के मातृभूमि की कीर्ति को उज्ज्वल किया। पब्लिक-सर्विस-कमीशन का काम करते समय उन्होंने अपने जीने-मरने तक की परवा न की। उनके इन तथा अन्य

कार्यों का दूसरे व्यक्तियों ने उत्तम रीति से वर्णन किया है। परन्तु जिसको मैं उनका खास सन्देश समझता हूँ, उक्त कार्यों में उस सन्देश की साफ झलक नहीं पाई जाती। अतः इस लेख में मैं उस बात का उल्लेख करूँगा, जिसका मुझे स्वयं अनुभव हुआ है। उसमें उनके सन्देश की झलक होगी।

सत्याग्रह के युद्ध (निष्क्रिय-प्रतिरोध-आन्दोलन) ने उनके मन पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि स्वास्थ्य के ठीक न रहते हुए भी उन्होंने दक्षिण-अफ्रिका की यात्रा करना निश्चित कर लिया। १९१२ ई० में वे वहाँ जा पहुँचे। वहाँ के हिन्दुस्तानियों ने उनका जो स्वागत किया वह किसी सम्राट् के स्वागत से कम न था। उनके केपटौन के पहुँचने के दूसरे दिन वहाँ के टौनहाल में सभा की गई। वहाँ का मेयर उसका अध्यक्ष था। वास्तव में गोखले की तबीयत उस समय इतनी अच्छी नहीं थी कि वे सभा में व्याख्यान देते; पर फिर भी उन्होंने अत्यन्त परिश्रम से निश्चित किये हुए कार्य्य-क्रम में एक कार्य्य को भी छोड़ देना अनुचित समझा। अपने निश्चय के अनुसार वे सभा में उपस्थित हुए। पहली ही बार के परिचय में उन्होंने केपटौन के गोरों का मन अपनी मुट्ठी में कर लिया। सब को यही जान पड़ा कि मानो कोई पवित्र आत्मा हमारे नगर में आई है। दक्षिण-अफ्रिका के मेरिमेन नामक विख्यात और उदार-चरित नेता ने गोखले से कहा—"महाशय, आप सरीखे पुरुषों के आगमन से ही हमारा वायु-मण्डल पवित्र होता है!"

महात्मा गोखले ज्यों ज्यों अधिकाधिक प्रदेशों का भ्रमण करने लगे त्यों त्यों यह अनुभव दृढ़तर ही होता गया। प्रत्येक स्थान में क्षण भर के लिये गोरे और काले रंगवालों का भेद नष्ट हो गया। प्रत्येक स्थान पर केपटौन की भाँति सभा की गई और गोरे तथा हिन्दुस्तानी दोनों एक ही पंक्ति में बैठे और उन्होंने महात्मा गोखले का एक सा सम्मान किया। जोहान्सवर्ग में उन्हें दावत दी गई थी उसमें लगभग ३०० प्रसिद्ध गोरे उपस्थित थे। उसका भी अध्यक्ष वहाँ का मेयर ही था। जोहान्सवर्ग के गोरों पर किसी का प्रभाव पड़ना बड़ा ही कठिन है। उनमें से कितने ही करोड़पति हैं तथा उनमें मनुष्यों को पहचानने की भी योग्यता है। (पर) महात्मा गोखले से हाथ मिलाने की इच्छा में वे एक दूसरे की प्रतिस्पर्द्धा तक करने लगे थे। इसका केवल एक ही कारण था। महात्मा गोखले के भाषणों में श्रोतागण उनकी अविचल देश-भक्ति और इसके साथ ही उनकी न्यायदृष्टि को देख सकते थे। स्वदेश की और अधिक प्रतिष्ठा की उनकी इच्छा हुई; पर अन्य देशों के अपमान की इच्छा नहीं हुई। अपने देश के सम्पूर्ण स्वत्वों की रक्षा के लिये उनमें जितनी तत्परता थी उनमें उतनी ही यह अकांक्षा भी थी कि हमारे इस काम से दूसरे देशों के स्वत्वों की हानि न होने पावे। इन कारणों से उनके वचनों में सब को स्वाभाविक आनन्द मिलता था।

म० गोखले ने दक्षिण-अफ्रिका में जितने भाषण किये उनमें जोहान्सवर्ग का व्याख्यान सर्वोत्तम था। यह विचार स्वयं

उन्हीं का था। यह भाषण पौन घंटे में समाप्त हुआ था। तथापि एक भी श्रोता के चेहरे पर मैंने ऊबने के चिह्न नहीं पाये। इस भाषण के लिये वे तीन दिन से तैयार हो रहे थे। जिस जिस इतिहास पुस्तक की उन्होंने आवश्यकता समझी उस उसका अवलोकन किया और अंकों को भली भाँति स्मरण किया। जिस दिन भाषण होने वाला था उस दिन सारी रात जाग कर उन्होंने अपनी भाषा का संशोधन और दुरुस्ती की। इन सब का जो परिणाम हुआ वह ऊपर बता ही चुके हैं; अर्थात् शत्रु और मित्र दोनों ही सन्तुष्ट हुए।

जनरल बोथा तथा स्मट्स से जब उन्होंने दक्षिण-अफ्रिका की राजधानी प्रिटोरिया में मुलाकात की थी उस समय इस मुलाकात के लिये तैयार होने में उन्होंने जितना परिश्रम किया था वह मुझे इस जन्म में नहीं भूल सकता। मुलाकात के पहले दिन उन्होंने मेरी और मि० कैलनबैक की* परीक्षा ली। वे स्वयं रात के तीन ही बजे जाग पड़े और हम लोगों को भी उन्होंने जगाया। उन्हें जो पुस्तकें दी गई थीं उनको उन्होंने अच्छी तरह पढ़ लिया था। अब हम

---

*ये महात्मा गांधी के एक मित्र हैं। भारत मे स्थायी-रूप से रहने के लिये दक्षिण-अफ्रिका से महात्मा गांधी के आते समय इंग्लैण्ड में दोनों की भेंट हुई। इसी समय वर्त्तमान महायुद्ध आरम्भ हुआ और जर्मन माता-पिता की सन्तान होने के कारण मि० कैलनबैक कैद कर लिये गये। इस समय आप इंग्लैण्ड में हैं।—अनु०।

लोगों से जिरह करके वे इस बात का निश्चय किया चाहते थे कि मेरी तैयारी पूरी हुई या अभी उसमें कुछ कसर है। मैंने उनसे विनय-पूर्वक कहा—"इतना परिश्रम अनावश्यक है। हम लोगों को तो कुछ मिले या न मिले, लड़ना ही होगा, पर अपने आराम के लिये मैं आपका बलिदान नहीं किया चाहता।" पर जिस पुरुष ने सर्वदा काम में लगे रहने की आदत ही बना रक्खी थी वह मेरी बातों पर कब ध्यान देता? उनकी जिरहों का मैं क्या वर्णन करूँ। उनकी चिन्ताशीलता की कितनी प्रशंसा करूँ! इतने परिश्रम का एक ही परिणाम होना चाहिए था। मंत्रि-मंडल ने वचन दिया कि आगामी बैठक में सत्याग्रहियों की आकांक्षाओं को स्वीकार करनेवाला कानून पास किया जायगा और मजदूरों को ४५ रुपयों का जो कर देना पड़ता है वह माफ कर दिया जायगा।

पर इस वचन का पालन नहीं किया गया। तो क्या गोखले निश्चेष्ट हो बैठ रहे? एक क्षण के लिये भी नहीं। मेरा विश्वास है कि १९१३ में उक्त वचन को पूरा कराने के लिये उन्होंने जो अविराम श्रम किया उससे उनके जीवन के दस वर्ष अवश्य छीजे होंगे। उनके डाक्टर की भी यही राय है। उस वर्ष भारत में जागृति उत्पन्न करने और द्रव्य एकत्र करने के लिये उन्होंने जितने कष्ट सहे उनका अनुमान कठिन है। यह म० गोखले का ही प्रताप था कि दक्षिण-अफ्रिका के प्रश्न पर भारतवर्ष हिल उठा। लार्ड हार्डिंज ने मद्रास में इतिहास में यादगार होने योग्य जो

भाषण किया वह भी उन्हीं का प्रताप था। उनसे घनिष्ट परिचय रखनेवालों का कहना है कि दक्षिण-अफ्रिका के मामले की चिन्ता ने उन्हें चारपाई पर डाल दिया, फिर भी अन्त तक उन्होंने विश्राम करना स्वीकार न किया। दक्षिण-अफ्रिका से आधी रात को आनेवाले पत्र-सरीखे लम्बे चौड़े तारों को उसी क्षण पढ़ना, जवाब तैयार करना, लार्ड हार्डिंज के नाम पर तार भेजना, समाचार-पत्रों में प्रकाशित कराये जानेवाले लेख का मसौदा तैयार करना और इन कामों की भीड़ में खाने और सोने तक की याद न रहना, रात का दिन कर डालना; ऐसी अनन्य निस्स्वार्थ भक्ति वही करेगा जो धर्मात्मा होगा।

हिन्दू और मुसलमान के प्रश्न को भी वे धार्मिक दृष्टि से ही देखते थे। एक बार अपने को हिन्दू कहनेवाला एक साधु उनके पास आया और कहने लगा कि मुसलमान नीच हैं और हिंदू उच्च। महात्मा गोखले को अपने जाल में फँसते न देख उसने उन्हें दोष देते हुए कहा कि तुममें हिन्दुत्व का तनिक भी अभिमान नहीं। महात्मा गोखले ने भँवें चढ़ा कर हृदय-भेदी स्वर में उत्तर दिया—"यदि तुम जैसा कहते हो वैसा करने ही में हिन्दुत्व है तो मैं हिन्दू नहीं; तुम अपना रास्ता पकड़ो।"

महात्मा गोखले में निर्भयता का गुण बहुत अधिक था। धर्मनिष्ठा में इस गुण का स्थान प्रायः सर्वोच्च है। लेफ्टिनेंट रैंड की हत्या के पश्चात् पूने में हलचल मच गई थी। गोखले उस समय इंग्लैण्ड में थे। पूनेवालों की तरफ से वहाँ उन्होंने जो

व्याख्यान दिये वे सारे जगत् में प्रसिद्ध हैं। उनमें वे कुछ ऐसी बातें कह गये थे, जिनका पीछे वे सबूत न दे सकते थे। थोड़े ही दिनों बाद वे भारत लौटे। अपने भाषणों में उन्होंने अँगरेज सिपाहियों पर जो इलजाम लगाया था उसके लिये उन्होंने माफी माँग ली। इस माफी माँगने के कारण यहाँ के बहुत से लोग उनसे नाराज भी हो गये। महात्मा को कितने ही लोगों ने सार्वजनिक कामों से अलग हो जाने की सलाह दी। कितने ही ना-समझों ने उन पर भीरुता का आरोप करने में भी आगा-पीछा न किया। इन सबका उन्होंने अत्यन्त गम्भीर तथा मधुर भाषामें यही उत्तर दिया कि "देश-सेवा का कार्य्य मैंने किसी की आज्ञा से अंगीकार नहीं किया है और किसी की आज्ञा से उसे मैं छोड़ भी नहीं सकता। अपना कर्त्तव्य करते हुए यदि मैं लोक-पक्ष के साथ रहने के योग्य समझा जाऊँ तो अच्छा ही है, पर यदि मेरे भाग्य वैसे न हों तो भी मैं उसे अच्छा ही समझूँगा।" काम करना उन्होंने अपना धर्म माना था। जहाँ तक मेरा अनुभव है, उन्होंने कभी स्वार्थ-दृष्टिसे इस बात का विचार नहीं किया कि मेरे कार्य्यों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। मेरा विश्वास है कि उनमें वह शक्ति थी जिससे यदि देश के लिये उन्हें फाँसी पर चढ़ना होता तो भी वे अविचलित चित्त से हँसते हुए फाँसी पर चढ़ जाते! मैं जानता हूँ कि अनेक बार उन्हें जिन अवस्थाओं में रहना पड़ा है उनमें रहने की अपेक्षा फाँसी पर चढ़ना कहीं सहज था। ऐसी विकट परिस्थितियों का उन्हें

अनेक बार सामना करना पड़ा, पर उन्होंने कभी पाँव पीछे न हटाये।

इन सब बातों से तात्पर्य यह निकलता है कि यदि इस महान् देश-भक्त के चरित्र का कोई अंश हमारे ग्रहण करने योग्य है तो वह उनका धर्म-भाव ही है। उसी का अनुकरण करना हमें उचित है। हम सब लोग बड़ी व्यवस्थापिका सभा के सदस्य नहीं हो सकते। हम यह भी नहीं देखते कि उसके सदस्य होने से देश-सेवा हो ही जाती हो। हम सब लोग पब्लिक-सर्विस-कमीशन में नहीं बैठ सकते, यह बात भी नहीं है कि उसमें के सब बैठने वाले देश-भक्त ही होते हों। हम सब लोग उनकी बराबरी के विद्वान् नहीं हो सकते, और विद्वान् मात्र के देश-सेवक होने का भी हमें अनुभव नहीं है। परन्तु निर्भयता, सत्य, धैर्य्य, नम्रता, न्यायशीलता, सरलता और अध्यवसाय आदि गुणों का विकास कर उन्हें देश के लिये अर्पण करना सब के लिये साध्य है; यही धर्म-भाव है। राजनीतिक जीवन को धर्ममय करने का यही अर्थ है। उक्त वचन के अनुसार आचरण करने वाले को अपना पथ सदा ही सूझता रहेगा। महात्मा गोखले की सम्पत्ति का भी वह उत्तराधिकारी होगा। इस प्रकार की निष्ठा से काम करने वाले को और भी जिन जिन विभूतियों की आवश्यकता होगी वे सब प्राप्त होंगी। यह ईश्वर का वचन है और महात्मा गोखले का चरित्र इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

चितरंजन दास

मनुष्यों में से एक दिग्गज-पुरुष उठ गया ! बंगाल आज एक विधवा की तरह हो गया है। कुछ सप्ताह पहले देशबन्धु की समालोचना करने वाले एक सज्जन ने कहा था 'यद्यपि मैं उनके दोष बताता हूँ, फिर भी यह सच है, मैं आपके सामने मानता हूँ कि उनकी जगह पर बैठने लायक दूसरा कोई शख्स नहीं है।' जब कि मैंने खुल्ना की सभा में, जहाँ कि मैंने पहले पहल यह दिल दहलानेवाली दुर्वार्ता सुनी, इस प्रसंग का जिक्र किया— आचार्य राय ने छूटते ही कहा—'यह बिलकुल सच है। यदि मैं यह कह सकूँ कि रवीन्द्रनाथ के बाद कवि का स्थान कौन लेगा तो यह भी कह सकूँगा कि देशबन्धु के बाद नेता का स्थान कौन ले सकता है। बंगाल में कोई आदमी ऐसा नहीं है जो देशबन्धु के नजदीक भी कहीं पहुँच पाता हो।' वे कई लड़ाइयों के विजयी वीर थे। उनकी उदारता एक दोष की हद तक बढ़ी हुई थी। वकालत में उन्होंने लाखों रुपये पैदा किये, पर कभी उन्हें जोड़ कर वे धनी न बने। यहाँ तक कि अपना घरू महल भी दे डाला।

१९१९ में, पंजाब महासभा-जाँच-समिति के सिलसिले में पहले-पहल मेरा प्रत्यक्ष परिचय उनसे हुआ। मैं उनके प्रति संशय और भय के भाव लेकर उनसे मिलने गया था। दूर से ही मैंने उनकी धुआँधार वकालत और उससे भी अधिक धुआँधार वक्तृत्व का हाल सुना था। वे अपनी मोटरकार लेकर सपत्नीक

सपरिवार आये थे और एक राजा की शान-बान के साथ रहते थे। मेरा पहला अनुभव तो कुछ अच्छा न रहा। हम हण्टर-कमिटी की तहक़ीकात में गवाहियाँ दिलाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए बैठे थे। मैंने उनके अन्दर तमाम कानूनी बारीकियों को तथा गवाह को जिरह में तोड़कर फौजी कानून के राज्य की बहुतेरी शरारतों की कलई खोलने की वकीलोचित तीव्र इच्छा देखी। मेरा प्रयोजन कुछ भिन्न था। मैंने अपना कथन उन्हें सुनाया। दूसरी मुलाकात में मेरे दिल को तसल्ली हुई और मेरा तमाम डर दूर हो गया। उनको मैंने जो कुछ कहा उसे उन्होंने उत्सुकता के साथ सुना। भारतवर्ष में पहली ही बार बहुतेरे देश-सेवकों के घनिष्ठ-समागम में आने का अवसर मुझे मिला था। तबतक मैंने महासभा के किसी काम में वैसे कोई हिस्सा न लिया था। वे मुझे जानते थे—एक दक्षिण अफ्रिका का योद्धा है। पर मेरे तमाम साथियों ने मुझे अपने घर का सा बना लिया—और देश के इस विख्यात सेवक का नंबर इसमें सबसे आगे था। मैं उस समिति का अध्यक्ष माना जाता था। 'जिन बातों में हमारा मत-भेद होगा उनमें मैं अपना कथन आपके सामने उपस्थित कर दूँगा, फिर जो फैसला आप करेंगे उसे मैं मान लूँगा। इसका यकीन मैं आपको दिलाता हूँ।' उनके इस स्वयंस्फूर्त आश्वासन के पहले ही हममें इतनी घनिष्ठता हो गई थी कि मुझे अपने मन का संशय उनपर प्रकट करने का साहस हो गया। फिर जब उनकी ओर से यह आश्वासन मिल

देशबन्धु चित्तरंजनदास

लाला लाजपतराय

गया तब मुझे ऐसे मित्रनिष्ठ साथी पर अभिमान तो हुआ, किन्तु साथ ही मुझे कुछ संकोच भी मालूम हुआ । क्योंकि मैं जानता था कि मैं तो भारत की राजनीति में एक नौसिखिया था और शायद ही ऐसे पूर्ण विश्वास का अधिकारी था । परन्तु तंत्र-निष्ठा छोटे-बड़े के भेद को नहीं जानती । वह राजा जो कि तंत्र-निष्ठा के मूल्य को जानता है, अपने खिदमतगार की भी बात उस मामले में मानता है जिसका पूरा भार उसपर छोड़ देता है । इस जगह मेरा स्थान एक खिदमतगार के जैसा था। और मैं इस बात का उल्लेख कृतज्ञता और अभिमान के साथ करता हूँ कि मुझे जितने मित्रनिष्ठ साथी वहाँ मिले थे, उनमें कोई इतना मित्रनिष्ठ न था जितना चित्तरंजन दास थे।

अमृतसर-धारासभा में तंत्रनिष्ठा का अधिकार मुझे नहीं मिल सकता था। वहाँ हम परस्पर योद्धा थे, हर शख्स को अपनी अपनी योग्यता के अनुसार राष्ट्र-हित-संबंधी अपने ट्रस्ट की रक्षा करनी थी। जहाँ तर्क अथवा अपने पक्ष की आवश्यकता के अलावा किसी की बात मान लेने का सवाल न था । महासभा के मंच पर पहली लड़ाई लड़ना मेरे लिए एक पूरे आनन्द और तृप्ति का विषय था। बड़े सभ्य, उसी तरह न झुकनेवाले, महान् मालवीय जी बलाबल को समान रखने की कोशिश कर रहे थे। कभी एक के पास जाते थे, कभी दूसरे के पास । महासभा के अध्यक्ष पंडित मोतीलालजी ने सोचा कि खेल खतम हो गया। मेरी तो लोकमान्य और देशबन्धु से खासी जम रही थी। सुधार

प्रस्ताव का एक ही सूत्र उन दोनों ने बना रखा था हम एक संबंधी दूसरे को समझा देना चाहते थे, पर कोई किसी का कायल न होता था। बहुतों ने तो सोचा था कि अब कोई चारा नहीं और इसका अन्त बुरा होगा। अलीभाई, जिन्हें मैं जानता था, और चाहता था, पर आज की तरह जिनसे मेरा परिचय न था, देशबन्धु के प्रस्ताव के पक्ष में मुझे समझाने लगे। महम्मद अली ने अपनी लुभावनी नम्रता से कहा 'जाँच समिति में आपने जो महान् कार्य किया है, उसे नष्ट न कीजिए।' पर वह मुझे न पटा। तब जयरामदास, वह ठंढे दिमागवाला सिन्धी आया, और उसने एक चिट में समझौते की सूचना और उसकी हिमायत लिख कर मुझे पहुँचाई। मैं शायद ही उन्हें जानता था। पर उनकी आँखों और चहेरे में कोई ऐसी बात थी जिसने मुझे लुभा लिया। मैंने उस सूचना को पढ़ा। वह अच्छी थी। मैंने उसे देशबन्धु को दिया। उन्होंने जवाब दिया—'ठीक है, बशर्ते की हमारे पक्ष के लोग उसे मान लें।' यहाँ ध्यान दीजिए उनकी पक्षनिष्ठा पर। अपने पक्ष के लोगों का समाधान किये बिना वे नहीं रहना चाहते थे। यही एक रहस्य है लोगों के हृदय पर उनके आश्चर्यजनक अधिकार का। वह सब लोगों को पसंद हुई।। लोकमान्य अपनी गरुड़ के सदृश तीखी आँखों से वहाँ जो कुछ हो रहा था सब देख रहे थे। व्याख्यान मंच से पण्डित मालवीयजी की गंगा के सदृश वाग्धारा बह रही थी—उनकी एक आँख सभामंच की ओर देख रही थी

जहाँ कि हम साधारण लोग बैठ कर राष्ट्र के भाग्य का निर्णय कर रहे थे। लोकमान्य ने कहा—'मेरे देखने की जरूरत नहीं। यदि दास ने उसे पसन्द कर लिया है तो मेरे लिए वह काफी है।' मालवीयजी ने उसे वहाँ से सुना, कागज मेरे हाथ से छीन लिया और घोर करतलध्वनि में घोषित कर दिया कि समझौता हो गया। मैंने इस घटना का सविस्तर वर्णन इसलिए किया है कि उसमें देशबन्धु की महत्ता और निर्विवाद नेतृत्व, कार्य-विषयक दृढ़ता, निर्णय-संबंधी समझदारी और पक्षनिष्ठा के कारणों का संग्रह आ जाता है।

अब और आगे बढ़िए। हम जुहू, अहमदाबाद, देहली और दार्जिलिंग को पहुँचते हैं। जुहू में वे और पण्डित मोतीलालजी मुझे अपने पक्ष में मिलाने के लिए आये। दोनों जुड़े भाई हो गये थे। हमारे दृष्टि-बिन्दु जुदे जुदे थे। पर उन्हें यह गवारा न होता था कि मेरे साथ मतभेद रहे। यदि उनके बस का होता तो वे ५० मील चले जाते जहाँ मैं सिर्फ २५ मील चाहता। परन्तु वे अपने एक अत्यन्त प्रिय मित्र के सामने भी एक इंच न झुकना चाहते थे, जहाँ कि देश-हित जोखिम में था। हमने एक किस्म का समझौता कर लिया। हमारा मन तो न भरा; पर हम निराश न हुए। हम एक दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए तुले हुए थे। फिर हम अहमदाबाद में मिले। देशबन्धु अपने पूरे रंग में थे और एक चतुर खिलाड़ी की तरह सब रंग-ढंग देखते थे। उन्होंने मुझे एक शान की शिकस्त दी। उनके

जैसे मित्र के हाथों ऐसी कितनी शिकस्त मैं न खाऊँगा ?—पर अफसोस ! वह शरीर अब दुनिया में नहीं रहा ! कोई यह ख्याल न करें कि साहावाले प्रस्ताव के बदौलत हम एक-दूसरे के शत्रु हो गये थे। हम एक दूसरे को गलती पर समझ रहे थे। पर मतभेद स्नेहियों का मतभेद था। वफादार पति और पत्नी अपने पवित्र मतभेदों के दृश्यों को याद करें—किस तरह वे अपने मतभेदों के कारण कष्ट सहते हैं, जिससे कि उनके पुनर्मिलन का सुख अति बढ़ जाय। यही हमारी हालत थी। सो हमें फिर देहली में उस भीषण जबड़े वाले शिष्ट पण्डित और नम्र दास से, जिनका कि बाहरी स्वरूप किसी सरसरी तौर पर देखनेवाले को अशिष्ट मालूम हो सकता है, मिलना होगा। मेरे उनके ठहराव का ढांचा वहाँ तैयार हुआ और पसंद हुआ। वह एक अटूट प्रेम-बंधन था जिसपर कि अब एक दल ने उनको मृत्यु की मुहर लगा दी है।

अब दार्जिलिंग को फिलहाल यहाँ मुल्तवी करता हूँ। वे अक्सर आध्यात्मिकता की बातें करते थे और कहते थे कि धर्म के विषय में आपका मेरा कोई मतभेद नहीं है। पर यद्यपि उन्होंने कहा नहीं तथापि उनका भाव यह रहा हो कि मैं इतना काव्य-हीन हूँ कि मुझे हमारे विश्वासों की एकात्मता नहीं दिखाई देती। मैं मानता हूँ कि उनका खयाल ठीक था। उन बहुमूल्य पाँच दिनों में मैंने उनका हर कार्य धर्म-मय देखा और न केवल वे महान् थे, बल्कि नेक भी थे, उनकी नेकी बढ़ती जा रही थी। पर इन

पाँच दिनों के बहुमोल अनुभवों को मुझे किसी अगले दिन के लिए रख छोड़ना चाहिए। जब कि क्रूर दैव ने लोकमान्य को हमसे छीन लिया तब मैं अकेला असहाय रह गया—अभी तक मेरी वह चोट गई नहीं है—क्योंकि अब तक मुझे उनके प्रिय शिष्यों की आराधना करनी पड़ती है। पर देशबन्धु के वियोग ने तो मुझे और भी बुरी हालत में छोड़ दिया है। जब कि लोकमान्य हमसे जुदा हुए देश आशा और उमंग से भरा हुआ था; हिन्दू, मुसलमान हमेशा के लिए एक होते हुए दिखाई दिये थे, हम युद्ध का शंख फूँकने की तैयारी में थे। पर अब ?

देशबन्धु के गुण

देशबन्धु के अवसान के शोक-समाचार मिलने के बाद गांधीजी का पहला भाषण खुलना में इस प्रकार हुआ:—

"आप लोगों ने आचार्य राय से सुन लिया कि हम लोगों पर कैसा भीषण वज्र-प्रहार हुआ है। परन्तु मैं जानता हूँ कि अगर हम सच्चे देशसेवक हैं तो कितना ही बड़ा वज्र-प्रहार हो, हमारे दिल को तोड़ नहीं सकता। आज सवेरे यह शोक-समाचार सुना तो मेरे सामने दो परस्पर-विरुद्ध कर्तव्य आ खड़े हुए। मेरा कर्तव्य था कि पहले जो गाड़ी मिले उसीसे मैं कलकत्ते चला जाता। पर मेरा यह भी कर्तव्य था कि आपके निर्द्धारित कार्य-क्रम को पूरा करूँ। मेरी सेवावृत्ति ने यही प्रेरणा की कि

यहां का कार्य पूरा किया जाय। यद्यपि मैं दूर दूर से आये हुए लोगों से मिलने के लिये ठहर गया हूँ तथापि उनके सामने महासभा के कार्य की विवेचना न कर के स्वर्गीय देशबन्धु का ही स्मरण करूँगा। मुझे विश्वास है कि कलकत्ते दौड़ जाने की अपेक्षा यहाँ का काम पूरा करने से उनकी आत्मा अधिक प्रसन्न होगी।

देशबन्धु दास एक महान् पुरुष थे। (यहाँ गांधीजी रो पड़े और एक दो मिनट तक कुछ बोल न सके) मैं गत छः वर्षों से उन्हें जानता हूँ। कुछ ही दिन पहले जब मैं दार्जिलिंग में उनसे बिदा हुआ था तब मैंने एक मित्र से कहा था कि जितनी ही घनिष्ठता उनसे बढ़ती है उतना ही उनके प्रति मेरा प्रेम बढ़ता जाता है। मैंने दार्जिलिंग में देखा कि उनके मन में भारत की भलाई के सिवा और कोई विचार न था। वे भारत को स्वाधीनता का ही सपना देखते थे, उसीका विचार करते थे और उसीको बातचीत करते थे और कुछ नहीं। दार्जिलिंग में मेरे बिदा होते समय भी उन्होंने मुझसे कहा था कि आप बिछुड़े हुए दलों को एक करने के लिये बंगाल में अधिक समय तक ठहरिए, ताकि सब लोगों की शक्ति एक कार्य के लिए संयुक्त हो जाय। मेरी बङ्गाल-यात्रा में उनसे मतभेद रखने वालों ने और उनपर बेतरह नुक्ताचीनी करने वालों ने भी बिना हिचकिचाहट के इस बात को स्वीकार किया है कि बंगाल में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो उनका स्थान ले सके। वे निर्भीक थे, वीर थे। बंगाल में नवयुवकों

के प्रति उनका निस्सीम स्नेह था। किसी नवयुवक ने मुझे ऐसा नहीं कहा कि देशबन्धु से सहायता मांगने पर कभी किसी की प्रार्थना खाली गई। उन्होंने लाखों रुपया पैदा किया और लाखों रुपया बंगाल के नवयुवकों में बाँट दिया। उनका त्याग अनुपम था, और उनकी महान् बुद्धिमत्ता और राजनीतिज्ञता की बात मैं क्या कह सकता हूँ? दार्जिलिंग में उन्होंने मुझसे अनेक बार कहा कि भारत की स्वाधीनता अहिंसा और सत्य पर निर्भर है।

भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों को जानना चाहिए कि उनका हृदय हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं जानता था। मैं भारत के सब अंगरेजों से कहता हूँ कि उनके प्रति उनके मन में बुरा भाव न था। उनकी अपनी मातृभूमि के प्रति यही प्रतिज्ञा थी—'मैं जीऊँगा तो स्वराज्य के लिए, और मरूँगा तो स्वराज्य के लिए।' हम उनकी स्मृति को कायम रखने के लिए क्या करें? आँसू बहाना सहज है; परन्तु आँसू हमारी या उनके स्वजन-परिजनों की सहायता नहीं कर सकता। अगर हममें से हर कोई—हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई उस काम को करने की प्रतिज्ञा करे जिसमें वे रहते थे, चलते थे और जिसे वे करते थे तो समझा जायगा कि हमने कुछ किया। हम सब ईश्वर को मानते हैं। हमें जानना चाहिए कि शरीर अनित्य है और आत्मा नित्य है। देशबन्धु का शरीर नष्ट हो गया परन्तु उनकी आत्मा कभी नष्ट न होगी। न केवल उनकी आत्मा बल्कि उनका नाम भी–जिन्होंने

इतनी बड़ी सेवा और त्याग किया है—अमर रहेगा और जो कोई जवान या बूढ़ा उनके आदर्श पर जरा भी चलेगा वह उनके यादगार बनाये रखने में मदद देगा। हम सब में उनके जैसी बुद्धिमत्ता नहीं है; पर हम उस भाव को अपने में ला सकते हैं जिससे वे देश की सेवा करते थे।

देशबन्धु ने पटने और दार्जिलिंग में चरखा कातने की कोशिश की थी। मैंने उनको चरखे का सबक दिया था और उन्होंने मुझसे वादा किया था कि मैं कातना सीखने की कोशिश करूँगा और जब तक शरीर रहेगा तब तक कातूँगा। उन्होंने अपने दार्जिलिंग के निवास—स्थान को 'चरखाक्लब' बना दिया था। उनकी नेक पत्नी ने वादा किया था कि बीमारी की हालत छोड़ कर मैं रोज आध घण्टे तक स्वयं चरखा चलाऊँगी और उनकी लड़की, बहन और बहन की लड़की तो बराबर ही चरखा कातती थीं।

देशबन्धु मुझसे अक्सर कहा करते—"मैं समझता हूँ कि धारासभा में जाना जरूरी है, मगर चरखा कातना भी उतना ही जरूरी है। न सिर्फ जरूरी है, बल्कि बिना चरखे के धारा-सभा के काम को कारगर बनाना असंभव है।' उन्होंने जब से खादी की पोशाक पहनना शुरू किया तब से मरण दिवस तक पहनते आये।

मेरे लिए यह कहने की बात नहीं है कि उन्होंने हिन्दू मुसलमानों में मेल करने के लिए कितना बड़ा काम किया

था। अछूतों से वे कितना प्रेम रखते थे। इसके विषय में सिर्फ वही एक बात कहूँगा जो मैंने बरीसाल में कल रात को एक नामशूद्र नेता से सुनी थी उस नेता ने कहा—मुझे पहली आर्थिक सहायता देशबन्धु ने दी और पीछे डाक्टर राय ने। आप सब लोग धारासभाओं में नहीं जा सकते। परन्तु उन तीन कामों को कर सकते हैं जो उनको प्रिय थे। मैं अपने को भारत का भक्तिपूर्वक सेवा करने वाला मानता हूँ। मैं आम-तौर पर घोषणा करता हूँ कि मैं अपने सिद्धान्त पर अटल रह कर आगे से संभव हुआ तो देशबन्धु दास के अनुयायियों को उनके धारासभा-कार्य में पहले से अधिक सहायता दूँगा। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह उनके काम को जरर पहुँचाने वाला काम करने से मुझे बचाये रक्खे। हमारा धारा-सभा-संबन्धी मतभेद बना हुआ था और है। फिर भी हमारा हृदय एक हो गया था। राजनैतिक साधनों में सदा मतभेद बना रहेगा। परन्तु उसके कारण हम लोगों को एक-दूसरे से अलग न हो जाना चाहिए या परस्पर शत्रु न बन जाना चाहिए। जो स्वदेश-प्रेम मुझे एक काम के लिए प्रेरित करता था वही उनको कुछ दूसरा काम करने को उत्साहित करता था। और ऐसा पवित्र मत-भेद देश के काम का बाधक नहीं हो सकता। साधन-संबन्धी मतभेद नहीं बल्कि हृदय की मलिनता ही अनर्थकारी है। दार्जिलिंग में रहते समय मैं देखता था कि देशबन्धु के दिल में उनके राजनैतिक विरोधियों के

प्रति नम्रता प्रति दिन बढ़ती जाती थी। मैं उन पवित्र बातों का वर्णन यहाँ न करूँगा। देशबन्धु देशसेवकों में एक रत्न थे। उनकी सेवा और त्याग बे-जोड़ था। ईश्वर करें उनकी याद हमें सदा बनी रहे और उनका आदर्श हमारे सदुद्योग में सहायक हो। हमारा मार्ग लम्बा और दुर्गम है। हमको उसमें आत्मनिर्भरता के सिवा और कोई सहारा नहीं देगा। स्वावलंबन ही देशबन्धु का मुख्य सूत्र था। वह हमें सदा अनुप्राणित करता रहे। ईश्वर उनकी आत्मा को शांति दे।"

चिरंजीवी लालाजी

लाला लाजपत राय का देहान्त हो गया। लालाजी चिरजीवी होवें। जब तक हिन्दुस्तान के आकाश में सूर्य चमकता है, तब तक लालाजी मर नहीं सकते। लालाजी तो एक संस्था थे। अपनी जवानी के ही समय से उन्होंने देशभक्ति को अपना धर्म बना लिया था। और उनके देश-प्रेम में संकीर्णता न थी। वे अपने देश से इसलिए प्रेम करते थे कि वे संसार से प्रेम करते थे। उनकी राष्ट्रीयता अंतर्राष्ट्रीयता से भरपूर थी। इसीलिए यूरोपियन लोगों पर भी उनका इतना अधिक प्रभाव था। यूरोप और अमेरिका में उनके अनेक मित्र थे। वे मित्र लालाजी को जानते थे और इसलिए उनसे प्रेम करते थे।

उनकी सेवाएँ विविध थीं। वे बड़े ही उत्साही समाज और धर्म सुधारक थे। हममें से बहुत से लोगों के सामने वे भी

इसीलिए राजनीतिज्ञ बने थे कि समाज और धर्म सुधार की उनकी लगन राजनीति में शामिल हुए बिना पूरी होती ही नहीं थी। सार्वजनिक जीवन शुरू करने के कुछ ही समय बाद उन्होंने देख लिया था कि विदेशी गुलामी से देश के स्वतंत्र हुए बिना, हमारे इच्छित सुधारों में से बहुत से नहीं हो सकेंगे। जैसा कि हममें से बहुतों को जान पड़ता है, उन्हें भी जान पड़ा था कि विदेशी परतंत्रता का जहर देश की नस नस में घुस गया है।

ऐसे एक भी सार्वजनिक आन्दोलन का नाम लेना असंभव है, जिसमें लालाजी शामिल न थे। सेवा करने की उनकी भूख सदा अतृप्त ही रहती थी। उन्होंने शिक्षण-संस्थाएं खोलीं; वे दलितों के मित्र बने; जहाँ कहीं दुःख दारिद्र्य हो, वहीं वे दौड़ते थे। नवयुवकों को वे असाधारण प्रेम से अपने पास जमा करते थे। सहायता के लिए किसी नौजवान की प्रार्थना उनके पास बेकार न गयी। राजनीतिक क्षेत्र में वे ऐसे थे कि उनके बिना चल ही नहीं सकता। अपने विचार प्रकट करने में वे कभी भयभीत न हुए। उस समय भी जब कि कष्ट सहना रोजमर्रा की बात नहीं हो गयी थी, अपने विचार निर्भीकता से प्रकाशित करने के लिए उन्होंने कष्ट सहा था। उनके जीवन में कोई छिपा हुआ रहस्य नहीं था। उनकी अत्यंत अधिक स्पष्टवादिता से मित्रों को अगर प्रायः घबराहट में पड़ना होता तो उनके आलोचक भी चक्कर में पड़ जाते थे। मगर उनकी यह आदत छूटनेवाली नहीं थी।

मुसलमान मित्रों का लिहाज रखता हुआ भी, मैं दावे के साथ यह कहता हूँ कि लालाजी इस्लाम के दुश्मन नहीं थे। हिन्दूधर्म को सबल बनाने तथा शुद्ध करने की उनकी प्रबल इच्छा को भूल से मुसलमानों या इस्लाम के प्रति घृणा नहीं समझनी चाहिए। हिन्दू-मुसलमानों में एकता स्थापित करने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। वे हिन्दू-राज की चाहना नहीं करते थे, किन्तु वे हिन्दुस्तानी राज की इच्छा करते थे। अपने आपको हिन्दुस्तानी कहनेवाले सभी लोगों में वे संपूर्ण समानता स्थापित करना चाहते थे। लालाजी की मृत्यु से भी हम परस्पर एक दूसरे पर विश्वास करना सीखते! और अगर हम निर्भय बन जायँ तो यह तुरत ही संभव है।

उनके लिए एक राष्ट्रीय स्मारक की मांग अवश्य ही होनी चाहिए, और वह होगी भी। मेरी विनम्र सम्मति में कोई स्मारक तब तक संपूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि स्वतंत्रता जरूर प्राप्त करनी है, यह दृढ़ निश्चय न होवे, और स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए वे जीते थे इसीके लिए उनकी ऐसी गौरवमयी मृत्यु भी हुई। जरा हम याद करें कि उनकी अंतिम इच्छा क्या थी। उन्होंने नयी पीढ़ी पर हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा उसके गौरव की रक्षा करने का भार दिया है। नयी पीढ़ी में उन्होंने जो विश्वास दिखलाया है, वह क्या उसके योग्य आपको साबित करेगी? और हम बूढ़ों में से जो अभी तक बचे हुए हैं, भारतवर्ष को स्वतंत्र देखने के लालाजी तथा दूसरे अनेक स्वर्गीय

देशभक्तों के स्वप्न को सही बनाने के लिए एक बार सभी मिल कर, महान् प्रयत्न कर, अपने को लालाजी के जैसे देशबन्धु पाने का अधिकारी सिद्ध करेंगे ?

इसके अलावा हम जन-सेवक-संघ (Servants of People Society) को भी नहीं भूल सकते। इस संघ को उन्होंने अपने निविध कामों की उन्नति के लिए स्थापित किया था—और वे सब काम देशोन्नति के लिए थे। संघ के संबन्ध में उनकी उच्चाभिलाषाएँ बहुत बड़ी थीं। उनकी इच्छा यह थी कि सारे भारतवर्ष में से कुछ नवयुवक मिल कर, एक कार्य में लग कर, एक दिल से काम करें। यह संघ अभी बच्चा ही है। इसे स्थापित हुए बहुत साल नहीं हुए हैं। अपने इस महान् काम को मजबूत पाये पर रखने का समय उन्हें नहीं मिला था। यह भार राष्ट्र के ऊपर और राष्ट्र को इसकी फिक्र करनी चाहिए।

हकीम साहब की स्मृति में

हकीम साहेब अजमल खाँ के स्वर्गवास से देश का एक सब से सच्चा सेवक उठ गया। हकीम साहेब की विभूतियाँ अनेक थीं। वे महज कामिल हकीम ही नहीं थे जो गरीबों और धनियों, सब के रोगों को दवा करता है। मगर वे थे एक दरबारी देश-भक्त, यानी अगर्चे कि उनका वक्त राजों महाराजों के साथ में बीतता था, मगर थे वे पक्के प्रजावादी। वे बहुत बड़े मुसलमान थे, और उतने ही बड़े हिन्दुस्तानी। हिन्दू और मुसलमान दोनों से

ही वे एक सा प्रेम करते थे। बदले में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक समान उनसे मुहब्बत करते थे, उनकी इज्जत करते थे। हिन्दू-मुसलिम एकता पर वे जान देते थे। हमारे झगड़ों के कारण उनके अन्तिम दिन कुछ दुखजनक हो गये थे। मगर अपने देश और देश-बन्धुओं में उनका विश्वास कभी नष्ट नहीं हुआ। उनका खयाल था कि आखिर दोनों सम्प्रदायों को मेल करना ही पड़ेगा। यह अटल विश्वास लेकर उन्होंने एकता के लिए प्रयत्न करना कभी नहीं छोड़ा। अगर्चे कि उन्हें सोचने में कुछ समय लगा, मगर आखिर वे असहयोग आन्दोलन में कूद ही पड़े थे, अपनी प्रियतम और सबसे बड़ी कृति तिब्बी कालेज को खतरे में डालते वे झिझके नहीं। इस कालेज से उनका वह प्रबल अनुराग था जिसका अन्दाजा सिर्फ वे ही लगा सकते हैं जो हकीम जी को भली भाँति जानते थे। हकीम जी के स्वर्गवास से मैंने न सिर्फ एक बुद्धिमान और दृढ़ साथी ही खोया है बल्कि ऐसा एक मित्र खोया है जिस पर मैं आड़े अवसरों पर भरोसा कर सकता था। हिन्दू-मुसलिम एकता के बारे में वे हमेशा ही मेरे रहबर थे। उनकी निर्णय शक्ति, गंभीरता और मनुष्य-प्रकृति का ज्ञान ऐसे थे कि वे बहुत कर के सही फैसला ही किया करते थे। ऐसा आदमी कभी मरता नहीं है। अगर्चे कि उनका शरीर अब नहीं रहा, मगर उनकी भावना तो हमारे साथ बराबर रहेगी, और वह अब भी हमें अपना कर्त्तव्य पूरा करने को बुला रही है। जब तक हम सच्ची हिन्दू-मुसलिम

एकता पैदा नहीं कर लेते, उनको याद बनाये रखने के लिए हमारा बनाया कोई स्मारक पूरा हुआ नहीं कहा जा सकता। परमात्मा ऐसा करे कि जो काम हम उनके जीते रहते नहीं कर सके, वह उनके निधन से करना सीखें। मगर हकीम जी कोरे स्वप्नद्रष्टा ही नहीं थे। उन्हें विश्वास था कि मेरा स्वप्न एक दिन पूरा होगा ही। जिस तरह तिब्बी कालेज के जरिये उनका देशी चिकित्सा का स्वप्न फला, उसी तरह अपना राजनीतिक स्वप्न भी उन्होंने जामिया मिल्लिया के जरिये फैलाने की कोशिश की। जब कि जामिया मरने मरने हो रहा था, उस समय हकीम साहब ने प्रायः अकेले ही उसे अलीगढ़ से दिल्ली लाने का सारा भार उठाया मगर जामिया को हटाने से खर्च भी बढ़ा। तब से वे अपने को जामिया की आर्थिक स्थिरता के लिए खासतौर पर जिम्मेवार मानने लगे थे। उसके लिए धन जमा करने में अब से वे ही मुख्य मनुष्य थे चाहे वे अपने ही पास से देवें या अपने दोस्तों से चन्दे दिलवावें। इस समय जो स्मारक देश तुरत ही बना सकता है, और जिसका बनाया जाना अनिवार्य है, वह है जामिया मिल्लिया की आर्थिक स्थिति को पक्की कर देना। हिन्दू और मुसलमान, दोनों को इसमें एक समान दिलचस्पी है और होनी चाहिए। अब तक देश में चार राष्ट्रीय विद्यापीठ किसी तरह अपने को चलाये जाते हैं। उनमें से जामिया मिल्लिया एक है। दूसरे तीन हैं, बिहार, काशी और गुजरात

विद्यापीठ। जामिया के स्थापित होते समय हिन्दुओं ने दिल खोल कर सहायता की थी। इस मुसलिम संस्था में राष्ट्रीय आदर्श जैसा का तैसा बना हुआ है। पाठकों का ध्यान मैं श्रीयुत रामचंद्रन के लेख की ओर आकर्षित करता हूँ जो १२ महीने के अनुभव पर लिखा गया है। इसके आचार्य मौलाना जाकिर हुसेन उदार विचार वाले बड़े विद्वान पुरुष हैं और उनकी उदार राष्ट्रीयता में कोई शक हो ही नहीं सकता। मौलाना जाकिर हुसेन के सहायक कई चुने हुए योग्य अध्यापक हैं जिनमें कई एक विदेशों में घूमे हुए और वहाँ की पदवियाँ लिये हुए हैं। दिल्ली में ले जाने के बाद संस्था की उन्नति ही हुई और अगर सहायता मिले तो वह बड़े सुन्दर परिणाम दिखला सकती है। इसमें कोई शक ही नहीं हो सकता कि जो हिन्दू और मुसलमान हकीम साहेब की स्मृति का आदर करना चहते हैं, जो असहयोग के रचनात्मक कार्य-क्रम में विश्वास रखते हैं, हिन्दू-मुसलिम ऐक्य में विश्वास करते हैं, उनका यह कर्त्तव्य है कि उनसे जितनी हो सके, इस संस्था को आर्थिक सहायता देवें।

अपने सर्वश्रेष्ठ साथी से मेरा वियोग

जिसे मैंने अपने सर्वस्व का वारिस चुना था वह अब न रहा। मेरे चाचा के पोते मगनलाल खुशालचन्द गाँधी मेरे कामों में मेरे साथ सन् १९०४ से ही थे। मगनलाल के पिता ने अपने

सभी पुत्रों को देश के काम में दे दिया है। वे इस महीने के शुरू में सेठ जमनालाल जी तथा दूसरे मित्रों के साथ बंगाल गये थे। वहाँ से बिहार आये। वहीं पर अपने कर्त्तव्य के पालन में ही उन्हें कठिन ज्वर हो आया। नौ दिन की बीमारी के बाद प्रेम और डाक्टरी इल्म से जितनी सेवा संभव है, सभी कुछ होने पर भी वे ब्रजकिशोरप्रसाद की गोद में से चल बसे।

कुछ धन कमा सकने की आशा से मगनलाल गाँधी मेरे साथ सन् १९०३ में द० अफ्रिका गये थे। मगर उन्हें दूकान करते पूरे साल भर भी न हुए होंगे कि स्वेच्छा-पूर्वक गरीबी की मेरी अचानक पुकार को सुनकर वे फीनिक्स आश्रम में आ शामिल हुए और तब से एक बार भी वे डिगे नहीं, मेरी आशाएँ पूरी करने में असमर्थ न हुए। अगर उन्होंने स्वदेश-सेवा में अपने को होम दिया न होता तो अपनी योग्यताओं और अपने अध्यवसाय के बल पर, जिनके बारे में कोई संदेह हो ही नहीं सकता, वे आज व्यापारियों के सिरताज होते। छापाखाने में डाल दिये जाने पर उन्होंने तुरत ही मुद्रण-कला के सभी भेदों को जान लिया। अगर्चे कि पहले उन्होंने कभी कोई हथियार हाथ में नहीं लिया था, इञ्जिन घर में, कलों के बीच तथा कंपोजिटरों के टेबल पर सभी जगह अत्यन्त कुशलता दिखलायी। 'इंडियन ओपीनियन' के गुजराती अंश का संपादन करना भी उनके लिए वैसा ही सहज काम था। फिनिक्स आश्रम में खेती का काम भी शामिल था, और इस लिए वे कुशल किसान भी बन गये।

मेरा ख्याल है कि आश्रम में वे सर्वोत्तम बागवान थे। यह भी उल्लेखनीय है कि अहमदाबाद से 'यंग इण्डिया' का जो पहला अंक निकला, उसमें भी गाढ़े मौके पर उनके हाथ की कारीगरी थी।

पहले उनका शरीर भीम जैसा था किन्तु जिस काम में उन्होंने अपने को उत्सर्ग किया, उसकी उन्नति में उस शरीर को गला दिया था। उन्होंने बड़ी सावधानी से मेरे आध्यात्मिक जीवन का अध्ययन किया था। जब कि मैंने विवाहित स्त्री पुरुषों के लिए ब्रह्मचर्य ही जीवन का नियम है' का सिद्धान्त अपने सहकारियों के सामने पेश किया था, तब उन्होंने पहले पहल उसका सौन्दर्य तथा उसके पालन की आवश्यकता समझी और अगर्चे कि उसके लिए जैसा कि मैं जानता हूँ, उन्हें बड़ा कठोर प्रयत्न करना पड़ा था, उन्होंने इसे सफल कर दिखलाया। इसमें वे अपने साथ अपनी धर्मपत्नी को भी धीरतापूर्वक समझा बुझा कर ले गये, उस पर अपने विचार जबरन डाल कर नहीं।

जब सत्याग्रह का जन्म हुआ, तब वे सबसे आगे थे। द० अफ्रिका के युद्ध का पूरा पूरा मतलब समझाने वाला एक शब्द मैं ढूँढ रहा था। दूसरा कोई अच्छा शब्द न मिल सकने से मैंने लाचार उसे 'निष्क्रिय प्रतिरोध' का नाम दिया था गोकि वह शब्द बहुत ही नाकाफी और भ्रमोत्पादक भी है। क्या ही अच्छा होता अगर आज मेरे पास उनका वह अत्यन्त सुन्दर पत्र होता जिसमें उन्होंने बतलाया था कि इस युद्ध को सदाग्रह क्यों कहना

चाहिए। इसी सदाग्रह को बदल कर मैंने सत्याग्रह शब्द बनाया। उनका पत्र पढ़ने पर इस युद्ध के सभी सिद्धान्तों पर एक एक करके विचार करते हुए अंत में पाठक को इसी नाम पर आना ही पड़ता था। मुझे याद है कि वह पत्र अत्यन्त ही छोटा और केवल आवश्यक विषय पर ही था। जैसे कि उनके सभी पत्र होते थे।

युद्ध के समय वे काम से कभी थके नहीं, किसी काम से देह नहीं चुराई, और अपनी वीरता से वे अपने आसपास में सभी किसी के दिल उत्साह और आशा से भर देते थे। जब कि सब कोई जेल गये, जब फोनिक्स में जेल जाना ही मानों इनाम जीतना था, तब मेरी आज्ञा से, जेल से भी भारी काम उठाने के लिए वे पीछे ठहर गये। उन्होंने स्त्रियों के दल में अपनी पत्नी को भेजा।

हिन्दुस्तान लौटने पर भी उन्हीं की बदौलत आश्रम जिस संयम नियम की बुनियाद पर बना है, खुल सका था। यहाँ उन्हें नया और अधिक मुश्किल काम करना पड़ा। मगर उन्होंने अपने को उसके लायक साबित किया। उनके लिए अस्पृश्यता बहुत कठिन परीक्षा थी। सिर्फ एक लहमे भर के लिए ऐसा जान पड़ा, मानों उनका दिल डोल गया हो। मगर यह तो एक सेकण्ड की बात थी। उन्होंने देख लिया कि प्रेम की सीमा नहीं बांधी जा सकती। और कुछ नहीं तो महज इसलिए कि

अछूतों के लिए ऊँची जाति वाले जिम्मेवर हैं, हमें उन्हीं के जैसे रहना चाहिए।

आश्रम का औद्योगिक विभाग फीनिक्स के ही कारखाने के ढंग का नहीं था। यहाँ हमें बुनना, कातना, धुनना और ओटना सीखना था। फिर मैं मगनलाल की ओर झुका। गोकि कल्पना मेरी थी किन्तु उसे काम में लाने वाले हाथ तो उनके थे। उन्होंने बुनना और कपास के खादी बनने तक की और दूसरी सभी क्रियाएँ सीखीं। वे तो जन्म से ही विश्वकर्मा, कुशल कारीगर थे।

जब आश्रम में गोशाला का काम शुरू हुआ तब वे इस काम में उत्साह से लग गये। गोशाला संबन्धी साहित्य पढ़ा और आश्रम की सभी गायों का नाम-करण किया, और सभी गोरुओं से मित्रता पैदा कर ली।

जब चर्मालय खुला, तब भी वे वैसे ही दृढ़ थे। जरा दम लेने की फुर्सत मिलते ही वे चमड़े की कमाई के सिद्धान्त भी सीखने वाले थे। राजकोट के हाईस्कूल की शिक्षा के अलावा, और जो कुछ वे इतनी अच्छी तरह जानते थे, उन्होंने वह सब स्वानुभव की कठिन पाठशाला में सीखा था। उन्होंने देहाती बढ़ई, देहाती बुनकर, किसान, चरवाहों और ऐसे ही मामूली लोगों से सीखा था।

वे चर्खा संघ के शिक्षण विभाग के व्यवस्थापक थे। श्रीयुत

वल्लभभाई ने बाढ़ के जमाने में उन्हें विट्ठलपुर का नया गाँव बनाने का भार दिया था।

वे आदर्श पिता थे। उन्होंने अपने बच्चों को, दो लड़कियां और एक लड़के को, जो अब तक अविवाहित हैं, ऐसी शिक्षा दी थी कि जिसमें वे देश के लिए उपहार बनने के योग्य हों उनका पुत्र केशव यंत्र-विद्या में बड़ी कुशलता दिखला रहा है। उसने भी अपने पिता के ही समान यह सब मामूली लुहार बढ़इयों को काम करते देख कर सीखा है। उनकी सबसे बड़ी लड़की राधा ने, जिसकी उम्र आज अठारह वर्ष है, अपने मत्थे विहार में स्त्रियों को स्वाधीनता के सम्बन्ध में एक मुश्किल और नाजुक काम उठाया था। सच ही तो, वे यह पूरा पूरा जानते थे कि कि राष्ट्रीय शिक्षा कैसी होनी चाहिए। और वे शिक्षकों को प्रायः इस विषय पर गंभीर और विचार पूर्वक चर्चा में लगाया करते थे।

पाठक यह न समझें कि उन्हें राजनीति का कुछ ज्ञान ही नहीं था उन्हें ज्ञान जरूर था किन्तु उन्होंने आत्मत्याग का रचनात्मक और शान्त पथ चुना था।

वे मेरे हाथ थे, मेरे पैर थे, और थे मेरी आँखें। दुनिया को क्या पता कि मैं जो इतना बड़ा आदमी कहा जाता हूँ, वह बड़प्पन मेरे शान्त, श्रद्धालु, योग्य, और पवित्र स्त्री तथा पुरुष कार्यकर्त्ताओं के अविरत परिश्रम, और गुलामी पर कितना

निर्भर है? और इन सब में मेरे लिए मगनलाल सबसे बड़े, सबसे अच्छे और सबसे अधिक पवित्र थे।

यह लेख लिखते हुए भी अपने प्यारे पति के लिए विलाप करती हुई उनकी विधवा की सिसक मैं सुन रहा हूँ मगर वह क्या समझेगी कि उससे अधिक विधवा—अनाथ—मैं ही हो गया हूँ? अगर ईश्वर में मेरा जीवन्त विश्वास न होता तो आज मैं उसकी मृत्यु के शोक में पागल हो गया होता, जो कि मुझे अपने सगे पुत्रों से भी अधिक प्रिय था, जिसने मुझे कभी धोखा न दिया, मेरी आशाएँ न तोड़ीं, जो अध्यवसाय की मूर्त्ति था जो आश्रम के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी अंगों का सच्चा चौकीदार था। उनका जीवन मेरे लिए उत्साह-दायक है, नैतिक नियम की अमोघता और उच्चता का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है। उन्होंने अपने ही जीवन में मुझे एक दो दिनों में नहीं, कुछ महीनों में नहीं, बल्कि पूरे चौबीस वर्षों तक की बड़ी अवधि में—हाय जो अब घड़ी भर का समय जान पड़ता है—यह साबित कर दिखलाया कि देश-सेवा, मनुष्य-सेवा और आत्म-ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान आदि सभी शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

मगनलाल न रहे, मगर अपने सभी कामों में वे जीवित हैं, जिनकी छाप आश्रम की धूल में से दौड़ कर निकल जाने वाले भी देख सकते हैं।

एक महान् देशभक्त

श्री उमर सुभानजी की बड़ी अचानक और अकाल मृत्यु हो गई। हमारे बीच से एक महान् देशभक्त और कार्यकर्ता उठ गया। एक समय बम्बई में श्री उमरसुभानी की तूती बोलती थी। बम्बई का कोई सार्वजनिक कार्य उमर सुभानी के दिन बिगड़ने से पहिले ऐसा न होता था जिसमें उनका हाथ न हो। फिर भी वह कभी सामने मंच पर नहीं आते थे, मंच को तय्यार कर देते थे। बम्बई के सौदागरों में वे बहुत प्रिय थे। उनकी सूझ प्रायः बहुत तीक्ष्ण और बेलाग होती थी। उनकी उदारता दोष की हद तक पहुँच जाती थी। पात्र-कुपात्र सब ही को वह दान दिया करते थे। प्रत्येक सार्वजनिक कार्य के लिए उनकी थैली का मुँह खुला रहता था। जैसा उन्होंने कमाया वैसा ही खर्च भी किया। उमर सुभानी हर काम की हद कर देते थे। उन्होंने आढ़त के कार्य में भी हद कर दी और इसीसे उनपर तबाही आ गई। एक महीने में ही उन्होंने अपनी आमदनी को दुगना कर लिया और दूसरे ही महीने में दिवाला पीट लिया। उन्होंने अपनी हानि को तो बहादुरी से सह लिया परन्तु उनके अभिमान ने उन्हें सार्वजनिक कार्यों से हटा लिया क्योंकि अब उनपर इन कामों में लाखों रुपया खर्च करने को नहीं था। वह माध्यमिक रास्ते पर चलना जानते ही नहीं थे। यदि चन्दे की फिहरिस्त में सबसे पहिले वह नहीं रह सकते तो बस फिर वह

उस फिहरिस्त की तरफ मुंह मोड़ कर भी न देखेंगे । इसीलिए गरीब होते ही वह सार्वजनिक कार्यों से हाथ खैंच कर बैठ गये। जहाँ कहीं और जब कभी कोई सार्वजनिक कार्य होगा उमर सुभानी का नाम बिना याद आये न रहेगा और न उनकी देश की सेवा ही कोई भूल सकता है । उनका जीवन हर अमीर नौजवान के लिए आदर्श और आगाही दोनों है। उनका जोशभरा देशभक्ति का कार्य आदर्श योग्य है। उनका जीवन हमें बताता है कि रुपया रख कर भी एक मनुष्य काबिल हो सकता है और उस रुपये को सार्वजनिक कार्यों की भेंट कर सकता है। उनका जीवन अमीर नौजवानों को जो बड़े बड़े काम करने की धुन में रहते हैं आगाही भी देता है।

उमर सुभानी कोई निर्बुद्धि सौदागर नहीं थे । जिस समय उनको हानि हुई उस समय और भी बहुत से सौदागरों को हानि हुई थी। उन्होंने जो बहुत सी रूई भर ली थी उसको हम मूर्खता नहीं कह सकते । वह बम्बई के सौदागरों में अच्छा स्थान रखते थे फिर भी उन्होंने इस प्रकार और लाभ के ध्यान से रुपया क्यों लगाया ? परन्तु वह तो देशभक्त की हैसियत से हौसला बढ़ाये रखना अपना कर्तव्य समझते थे । उनका जीवन और उनका नाम जनता की जागीर था और उन्हें बहुत सोच-समझ कर काम करना चाहिए था । मैं समझता हूं कि काम बिगड़ जाने के बाद सबलोग अक्लमन्दी की बातें बताया करते हैं परन्तु मैं उनके दोष ढूँढने के अभिप्राय से कुछ नहीं कह रहा

हूँ। मैं तो चाहता हूँ कि हम सब इस देशभक्त के जीवन से शिक्षा लें। आनेवाली सन्तान को किसी काम के बिगड़ जाने से शिक्षा लेनी ही चाहिए। दूसरों की गलतियों से भी हमें कुछ सीखना ही चाहिए। हम सब को उमर सुभानी की तरह अपने हृदय में देशप्रेम रखना चाहिए। हम सबको दान देने में उमर सुभानी होना चाहिए। हम सबको उमर सुभानी की तरह धार्मिक द्वेष से दूर रहना चाहिए। परन्तु हम सबको उमर सुभानी की तरह बेपरवाह और असावधान होने से बचना चाहिए। यही इस देशभक्त ने हम सबके लिए वसीयत छोड़ी है और हम सबको इस वसीयत से लाभ उठाना चाहिए।

बड़ो दादा

गांधी जी को तार मिला कि ता० १९ की सुबह 'बड़ो दादा' जो शान्ति निकेतन के पितामह के समान थे चिरंतन शांति में लीन हो गये हैं। तार पढ़ते ही छः सात महीने पहले जिस प्राचीन ऋषि के दर्शन किये थे उनकी मूर्ति नजर के आगे खड़ी हो गई 'आनन्दम् ब्रह्मणे विद्वान्न बिभेति कदाचन' (ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला कभी भय को प्राप्त नहीं होता)। इस महावाक्य का बारम्बार उच्चार करती हुई वह मूर्ति उपस्थित हुई और इस महा वाक्य की प्रतिध्वनि कान पर पड़ने लगी। क्या

हो उस दिन का उनका उल्लास, कैसा उस दिन का उनका बालोचित आनन्द! गाँधी जी विदा लेते लेते उनके पैरों पड़े। उस समय उन्होंने कहा था 'आपका आगम जीवन की सूखी मरुभूमि में जल बिंदु के समान है। इस दिन की याद में मेरी भवाटवी की यात्रा मुझे मुश्किल न मालूम हो तो अच्छा हो' इन वचनों में केवल गाँधी जी के वियोग का दुख न था। इन में तो भगवद्वियोग का दुख था। भगवद्भक्ति तो इन्होंने अपने लम्बे आयुष्य में खूब की थी। भगवान का कीर्तन भी लेखों और प्रवचनों के द्वारा बहुत कुछ किया था। परन्तु वह सब वियोग भक्ति थी। परन्तु उस दिन तो 'बड़ो दादा' संयोग भक्ति के लिए तड़पते थे। अब कब तक वियोग रहेगा? विदा लेते लेते गाँधी जी बोले, "आप जिसका दर्शन चाहते हैं उसका जब तक दर्शन न हो जाय तब तक इस देह को टिका रखना उन्होंने उत्तर में कहा 'हाँ' और ईश्वर की भी कैसी कृपा! उस देह की जब वियोगभक्ति के लिए भी जरूरत न रही, वह पके हुवे फल की तरह गिर पड़ी। "जरूरत न रही,' यह इसलिये कहता हूँ कि जिस वस्तु के लिये 'बड़ो दादा' तरस रहे थे, वह उनको प्राप्त हो चुकी थी। पिछले दिसम्बर की १५ तारीख को हम वर्धा थे, उस समय गाँधी जी को एक छोटा सा पत्र मिला। उसमें यह लिखा हुआ था, 'ईश्वर की कृपा है कि आपकी प्रार्थना फली है। जिसे प्राप्त करने के बाद और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रहता, वह मुझे प्राप्त हो गया है। इस प्रकार वे—.

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मान्यते नाधिकं ततः
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

इसमें वर्णन की हुई स्थिति को प्राप्त कर चुके थे। और महीने भर के बाद ही तो उन्होंने देह को सर्प की केंचुली की तरह त्याग दिया।

× × ×

इस महर्षि के दर्शन के लिए शान्ति निकेतन में सालभर में एकाध बार भी जाना प्राप्त हो, तो यह भी एक लाभ ही था। उनके पास जा कर बैठें, उनके चरणस्पर्श करें, चाहे वे कुछ बोलते न हों फिर भी केवल उनकी मौनधारी शांत मुद्रा को भी देखते रहें, तो भी यही प्रतीत होगा कि मानों उसमें से स्नेह और करुणा सी फूट रही है। उनसे परिचय प्राप्त करने की तो जरूरत ही क्या थी? यदि उन्होंने यह सुना कि आप किसी भी प्रकार से देश की छोटी मोटी सेवा करते हैं तो उनकी आपके ऊपर सदा ही जमी दृष्टि रहेगी। और बालक की तरह वे आपके साथ बातें ही किया करेंगे। ८८ वर्ष की उमर में भी उनकी स्मृति बहुत मंद न हो पायी थी, बात बात में पाश्चात्य तत्त्व ज्ञान के अपने अगाध ज्ञान-भण्डार में से कुछ वचन सुनाते, उसका अपने तत्त्व ज्ञान के साथ मुकाबला करते, और अपने कथन के समर्थन में शंकराचार्य के लिखे वाक्यों को उद्धृत करते थे। उनका अपने शास्त्रों का अध्ययन जितना गहरा था, उतना ही अन्य शास्त्रों का भी था। ईसाई सिद्धान्तों के बारे में भी मैंने उन्हें ऐसे ज्ञान

के साथ बात करते हुये सुना है कि विद्वान् ईसाई भी उसे सुनकर लज्जित होते थे। 'तत्त्व बोधिनी', 'भारती', तथा दूसरे मासिक उनके तत्वाभ्यास के लेखों से भरे पड़े थे। परन्तु उनका अध्ययन इतना गहरा होते हुये, और टागौर कुटुम्ब को सहज-प्राप्त ऐसे पाश्चात्य संस्कार वाली अनेक व्यक्तियों के संसर्ग में होते हुये भी आर्य संस्कृति और भारतवर्ष के प्रति उनका प्रेम सदा अबाधित रहा। कविवर का संस्कृत और विशेष कर उपनिषदों के प्रति जो प्रेम है। उसके लिए वे जितने महर्षि के ऋणी हैं उतने ही 'बड़ो दादा' के भी हैं। उनके जो निबन्ध व काव्य और पुस्तकें प्रकशित हुई हैं, उनमें आर्य संस्कृति का उनका अध्ययन व अनुराग और देशोद्धार की तीव्र:आकांक्षा जहाँ तहाँ प्रकट होती है। वे अपने को धन्य मानें जिन्हें ऐसे ऋषि के आशीर्वाद प्राप्त हों कि जिन्होंने अपने देश का करीब करीब एक शताब्दि का इतिहास देखा था, अपने पूर्व जीवन में अनेक सुधारक प्रवृत्तियों में हाथ बंटाया था और पश्चिम के प्रवाह के सामने अपना दिमाग कब्जे में रक्खा था।

× × ×

गाँधी जी का और उनका सम्बन्ध बहुत पुराना नहीं था। हाँ, दक्षिण अफ्रीका से जब गाँधी जी लौटे थे तब शायद उन्होंने 'बड़ो दादा' के साथ कुछ थोड़ा समय बिताया होगा। लेकिन असहयोग के बाद उनका यह सम्बन्ध अधिक गहरा होता गया। गाँधी जी ने उस मौके पर जब कभी कोई नयी बात कि की तब

उनको तरफ़ से आशीर्वाद और प्रोत्साहन का पत्र अवश्य ही जाता था। जब से शान्ति-निकेतन की स्थापना हुई है तब से वे सार्वजनिक जीवन से निवृत होकर शान्तिनिकेतन के बालकों को थोड़ा-बहुत पढ़ाते रहते हैं। 'गीतापाठ' पुस्तक, इन बालकों को सुनाये गये प्रवचनों का ही संग्रह है। परन्तु फिर भी उनको देशोन्नति का विचार तो रहता ही था। वे बार बार यही कहा करते थे कि 'मैं एक ऐसे नेता के लिए तड़पा करता था कि जो देश को सच्चा मार्ग दिखावे और ईश्वर ने गांधी को 'और उनके कार्य को देखने का 'मुझे सौभाग्य प्राप्त कराया है। वे ८० वर्ष के हुए थे फिर भी अखबार नियमित पढ़ते पढ़ाते थे और अपने विचारों का विनिमय करते थे। अपने पास आने वाले युवकों को प्रोत्साहन देते थे और बहुत उत्साह में आ जाते थे तो गांधी जी को पत्र लिखते थे ! 'मेरे हाथ चलते होते तो कैसा अच्छा होता। मैं खुद चरखा चला कर आपके कार्य में मदद करता, आज तो विचार ही से मदद करता हूँ।' गांधीजी को उन्होंने अनेक बार यह कहा था। गांधीजी तो उनके चरणों में जाकर बैठे थे उनको गुरू के स्थान पर पूज्य मानकर ही उनके पास बैठे। लेकिन उन्होंने तो शिष्य को ही गुरू मानने की वृत्ति दिखाई थी।

× × ×

कैसा उनका प्रेम और कैसी उनकी नम्रता ! गांधी जी के बारे में अनुचित टीकायें सुनकर आग बबूला हो उठते थे, और

और कभी कभी तो उचित टीका सुनकर भी वे उत्तेजित हो उठते थे। उन्हें गांधी जी की प्रवृत्ति के लिए ऐसा ही तीव्र पक्षपात था। 'मैं तो शास्त्र वचन घोल कर ही बताता हूँ आपतो उसका आचरण कर रहे हैं' सरल भाव से यह कह कर गांधी जी को उन्हों ने आखीरी मुलाकात में कितने ही बार शरमाये थे। इतना ही नहीं उन्हें तो गांधी जी की सेना का सबसे आख़ीरी कोटि का सैनिक भी प्राणप्रिय था। ऐसी विरल देशभक्ति से रँगे हुए इस हृदय के आशिर्वचनों ने गाँधी जी के आशिर्वाद को चिरजा-गृत रखने में कम हिस्सा नहीं दिया होगा।

× × ×

और यह प्रेम सबल कारणों के ऊपर बँधा हुआ था। असहयोग पर पूरा विचार करके उन्होंने उसे हिन्दुस्तान की जनता को मिला हुआ एक अमोघ धर्मशास्त्र माना था और ईश्वर ने उन्हें खुद जैसी सेवा करने की कामना थी वैसी करने के लिये निमित्त बनाये हुए दूसरे लोगों को उत्पन्न किये थे यह देख कर उनका उदार हृदय प्रेम से भर आता था। १९२१ में अपने मित्रों को लिखे हुए उनके कुछ बङ्गाली पत्र मेरे पास हैं। एक पत्र में की हुई असहयोग की समालोचना हृदयस्पर्शी है:—

'योगशास्त्र में लिखा है कि सुखी मनुष्य को देख कर मैत्री भाव धारण करने से चित्त की ईर्षा रूपी मलीनता उड़ जाती है। दुखी जन को देखकर कारुण्य भाव धारण करने से चित्त का दूसरों का अपकार करने की वृत्ति रूपी मैल धुल जाती है। पुण्य-

शील जन के प्रति अनुमोदन भाव धारण करने से चित्त का असूया रूपी मैल धुल जाता है। इसके बाद यह मंत्र दिया हुआ है: 'अपुण्यशीलेपु च औदासीन्यमेव भावयेत, नानुमोदनम् न वा द्वेषम्' अर्थात् धर्मपरायण व्यक्ति के प्रति खास करके ब्रिटिश राजपुरुप जैसे दिन दोपहर को धाड़ डालनेवालों के प्रति—औदासीन्यभाव (असहयोग भाव) रखना यही कर्त्तव्य है—अनुमोदन का भाव ही नहीं और द्वेष का भाव भी नहीं। इतने में मेरा सारा कथन आ जाता है" दूसरे एक पत्र में लिखते है:—

"हम लोगों ने धीरे धीरे इस राज्य के राजनीतिज्ञों से विषमिश्रित दान लेकर अपना कर्ज अनहद बढ़ा लिया है। इस हालत में नया कर्ज करना बन्द करके पुराना चुकाने के लिए अभी हम लोगों के पास जो रहे सहे साधन मौजूद हैं उनका जीर्णोद्धार करने वाले को क्या आप रोकेंगे और कहेंगे कि 'नहीं नहीं दान लिये जाओ'? घी खाना लाभदायी है घो न खाना सूख जाने के बराबर है—अर्थात् 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' (करज करके भी घी पीना चाहिए)।

मैं तो सब बातों की एक बात यह समझता हूँ कि अंग्रेज राजनीतिज्ञों के साथ सहयोग करना ऐसा ही है जैसे बगुले का बिल्ली के साथ बैठ कर थाली में भोजन करना। हम सब जानते हैं कि गाँधी काम, क्रोध, मद, मत्सर के कीचड़ में से निकल कर बहुत ही ऊँचे उठे हुये हैं और वे वहाँ से अपना काम करते हैं। गाँधी में रणोंन्मत्तता जैसी कोई वस्तु नहीं है। वह अहिंसा

का एकान्तिक सेवक है वे ऐसे नहीं कि जोश में आकर कोई प्रवृति कर बैठे।

जिसे हमलोग पसंद करते हैं वैसे कामों को करने में भी वे जोश या नशे में आकर कुछ न करेंगे। इसलिये इसी में श्रेय है कि उनके मुक्त, विशुद्ध, साधुजनोचित सत्कार्य में सर्वान्तःकरण पूर्वक शामिल हों। मेरा तो ध्रुव विश्वास है कि गाँधी के जैसा विशुद्ध सोना इस घोर कलिकाल में मिलना दुर्लभ है। इस सोने का व्यापार क्यों न करलें?

अपने प्रीतिभाजन, अपने पास बैठने वालों, और उनसे सलाह लेने वालों को इस प्रकार अपना अन्तर मथन करके उसका नवनीत देने वाले इस महासभा के विचारों से जैसा कि ऊपर कहा गया है असहयोग को कुछ कम पुष्टि नहीं मिली है?

देश सन्मार्ग पर चढ़ा है। गिरता पड़ता भी वह अब उसी में चला जायगा, उसे छोड़ेगा नहीं। यह विश्वास ही उनके लिये काफी था। वे स्वराज्य लेने के लिये अधीर न थे। उनके लिये तो देश को एक कदम आगे बढ़ा हुआ, अर्थात् सन्मार्ग पर जाता हुआ देखना ही बस था।

× × ×

इस विरल पुरुष के देशहित विषयक विचार तो देखें। जिस असहयोग का मूल गाँधी जी के गीताभ्यास में हैं उस गीता के प्रति 'बड़ोदादा के अनुराग के भी एक दो उदाहरण देकर उनके इस पुण्य स्मरण की समाप्ति करेंगे।

"गीता हमारे मन्दिर का बिना तेल जलता अखंड दीपक है। पश्चिम का सारा तत्वज्ञान इकट्ठा होकर चाहे जितना प्रकाश क्यों न फैलावे हमारे इस छोटे से दीपक को अखंड ज्योति उसे मंद कर देगी, उसका प्रकाश उससे कहीं अधिक है। इस दीपक से जो एक सूक्ष्म वायु निकलती है उससे हमारे देश की वायु पवित्र होती है और उस वायु से प्रेरित मेघ से शान्ति जल की बूंद बूंद टपक कर हमारे त्रितापदग्ध हृदय को ठंडा करती है—वह जल मृतसंजीवनी-सुधा के समान है। हमारा शरीर थककर जब हार बैठता है, किसी काम में चित्त नहीं लगता उस समय एक अमृत विन्दु भी हमें स्फूर्ति देती है—'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।'

साधन और साध्य के सम्बन्ध में वे लिखते हैं:—

'पृथ्वी को कितने ही युगों की तपस्या के बाद आत्मा की प्राप्ति हुई है। पृथ्वी के अंधकार में आत्मा प्रकाश है, मरु भूमि का नंदनवन है। आत्मा को प्राप्त करने पर पृथ्वी की श्री-शोभा बदल गई है। सागर-सहित पृथ्वी का समस्त धन एक तरफ रक्खा जाय और दूसरी तरफ आत्मा को रक्खा जाय तो उस धन की कोई कीमत न होगी। यदि इतना ही होता कि आत्मा 'है' तो उसे जानने की कोई भी परवा न करता। परन्तु आत्मा तो 'अस्ति' 'भाति' 'प्रिय' इन तीन अमोल रत्नों का बना हुआ है। 'अस्ति' में आत्मा की ध्रुव प्रतिष्ठा, 'भाति' में आत्मा का प्रकाश और 'प्रिय' में आत्मा

का प्रेमामृत है। कूएँ में कीचड़ हो जाने पर जब उसका जल मैला हो जाता है तब कूएँ को जिस प्रकार उलेच कर साफ़ करना पड़ता है उसी प्रकार विवेक वैराग्य और संयम के द्वारा आत्मा को शुद्ध रखना पड़ता है। वैसा न किया जाय तो साधक आत्मा का उपभोग नहीं कर सकता। संस्कृत भाषा में जैसे व्याकरण अलंकार, काव्य, साहित्य सब आ जाता है, उसी तरह समग्र आत्मा में ज्ञान, वीर्य, प्रेम, आनन्द सब आ जाता है। यह सहज ही समझ में आ सकता है परन्तु साथ ही यह भी समझना जरूरी है कि संस्कृत भाषा को व्युत्पत्ति जानने की लिये सब से पहले संस्कृत भाषा को व्याकरण जानने की जरूरत होती है—कारक, विभक्ति, सर्वनाम, उपसर्ग आदि संस्कृत भाषा के भिन्न भिन्न अंग-प्रत्यंगों का अच्छी तरह अध्ययन करना पड़ता है। इसके बाद इन सब अंग-प्रत्यंगों का ज्ञान एकत्रित करके व्याकरण के ज्ञान का भाषा के व्यवहार के लिए किस तरह उपयोग किया जा सकता यह तो हाथ में कलम लेकर सीख सकते हैं। यह न किया जाय तो संस्कृत काव्य साहित्य का रस लेने का अधिकार प्राप्त नहीं होता है।

विद्यार्थी आचार्य को कहे कि एक तो व्याकरण पढ़ने में ही कुछ मजा नहीं आता है और फिर शब्दों को इकट्ठे करके वाक्य बनाना बड़ी मिहनत का काम है इसे तो शाकुन्तल नाटक ही क्यों न पढ़े? जिस प्रकार यह उसकी दुराकांक्षा समझी जावेगी, उसी प्रकार साधक भी यदि आचार्य को कहे 'तत्त्वज्ञान

नीरस है शमदमादि साधन अतिशय कठिन है, इन सब में मेरा मन नहीं लगता—आध्यात्मिक प्रेम-आनन्द फौरन् ही मिल जाय ऐसा कुछ सदुपदेश दीजिए,—तो यह उससे भी बढ़कर दुराकांक्षा है। पातञ्जल के योग-शास्त्र में पाँच सीढ़ियाँ बताई गई हैं। श्रद्धा वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। गीता में भी उपदेश में पहली वस्तु श्रद्धा है—आत्मा के ध्रुव अस्तित्व के प्रति विश्वास। दूसरी सीढ़ी वीर्य अर्थात् शमदमादि साधनों में और अनासक्त रह कर अबाधित रूप से कर्त्तव्य में लगे रहना, स्मृति—आध्यात्मिक शक्ति का अनुभव, समाधि यानो एकाग्रता और प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान।········ये पाँच सीढ़ियाँ जब पूरी हो जाती हैं तब आनन्द का फवारा साधक के मगज में फूटता है।"

'बड़ो दादा' की उत्तरावस्था का बहुत सा समय इन साधनों के करने ही में जाता था। चार पाँच वर्ष पहले तो कुछ कुछ लिखने का काम भी करते थे। ८५ वर्ष की उम्र में तो इन्होंने बङ्गाली शार्ट हैंड (लघुलिपि) की एक अपनी ही नयी तर्ज निकाली थी। और उसके लिये वे सूचनायें अपने मोती के दाने से अक्षरों में लिखते थे। जब आँखों से देखना बन्द हुआ और लिखना बन्द करना पड़ा तब भी उपनिषद आदि पढ़वाना जारी रक्खा था। अपने मनोरंजन के लिये काग़ज काट काट कर तरह तरह की संदूकें बनाते और बालकों को देते। छोटे छोटे काव्य बनाते। कोई उनकी गोद में हमेशा खेलने वाली गिलहरी पर, तो

कोई रवि बाबू या वैसे ही कोई दूसरे चिरंजीवी के जन्म दिन पर। आखिर को यह प्रवृत्ति भी कम की। भगवद्वियोग दुःख उन्हें चुभने लगा और भगवत्कृपा से अंतकाल में वे जिसके लिये तड़पते थे वे वहीं उन्हें मिल गया।

लाला लाजपतराय

एक मित्र की स्मृति

७ हजार की इस दूरी पर बैठे-बैठे मेरे लिये यह अनुभव करना कि अब मैं उन्हें फिर न देख सकूँगा बड़ा ही कष्टकारक है। अन्तिम समय तक उनके सन्देश मेरे पास आते रहे और उनकी मृत्यु के बाद भी मुझे खुद उनके हाथ का लिखा हुआ एक पत्र मिला। ये स्मृतियाँ लिखते समय मैं उनके सम्बन्ध में केवल उन्हीं बातों पर विचार कर सकता हूँ जो मैंने उनके जीवन-काल में उनमें देख पाई हैं। लालाजी बड़े हँसोड़ और खुश मिजाज व्यक्ति थे। हृदय के इतने उदार थे कि उनका बालसुलभ स्वभाव प्रायः हर अवसर पर बाहर प्रकाश में आजाता था। कभी तो किसी बात को सुन कर वह गम्भीर-रूप के उत्तेजित हो जाते और कभी देश के किसी अपमान को देख कर उस पर मारे क्रोध के जलने लगते। दूसरे ही क्षण बातचीत के सिलेसिले में मनुष्य-स्वभाव की कमजोरी और स्खलनशीलता के जिक्र के आने पर वह प्रसन्नचित्त हो कर हँसते दिखाई देते; अतः उन्हें

देखनेवाले के हृदय में प्रायः यही भाव उठते कि उनकी मुद्रा कभी तो गम्भीर से प्रसन्न बन जाती है और कभी प्रसन्न से गम्भीर।

परिणाम में वह हमेशा किसी चीज का अच्छा पहलू ही देखा करते और जब कभी उनके मानव-भाव को स्पर्श किया जाता तो जितनी जल्दी वह किसी बात को भूल जाते या क्षमा कर देते थे उतनी जल्दी मेरे जाने हुए में से कोई शायद ही करता हो। उनके बुढ़ापे के साथ उनकी यह उदारता दिन-ब-दिन बढ़ती ही गई। उनके स्वभाव की यह एक आश्चर्यकारक विशेषता थी। उन्होंने अपना बाल-सुलभ स्वभाव अपने अन्तिम समय तक जैसा का तैसा कायम रक्खा।

जब मैं भूतकाल की ओर दृष्टि डाल कर विचार करता हूँ कि अधिकारियों के हाथों लालाजी को कितना कष्ट सहना पड़ा तो उनकी क्षमा की विमलता मुझे आश्चर्य में डालती है। पहले-पहल १९०७ ई० के हाहाकार-पूर्ण वायुमण्डल में उनके देशनिकाले और कैद का समय आया। शत्रुभाव उत्पन्न कर लेने के लिये इतना कारण किसी के भी लिये काफी हुआ होता, क्योंकि यह कार्य ऐसा ही अनाहूत और दुष्टता-पूर्ण था। लेकिन वह लौटे और उसी रूप में लौटे जैसे पहले थे। और देश की उस समय की राजनीति पर अपनी व्यवहार चातुरी के बल पर संयम-पूर्ण और मध्यस्थों का-सा प्रभाव डालने लगे। वापस आने

पर उनकी देश में जैसी असाधारण ख्याति फैली उसके कारण उन्हें कभी भी गर्व नहीं हुआ।

यही बात बार-बार होती रही। उनके अमेरिका के अनुभव बड़े कड़ुए थे। एक ओर वे लोग थे, जो उन्हें गुप्त साधनों द्वारा हिंसा-पूर्ण क्रान्ति की योजनाओं में हाथ बँटाने के लिए ललचाने की कोशिश कर रहे थे। दूसरी ओर वे लोग थे जो पल-पल पर उनकी देख-रेख रखते और उनके भाषण एवं बातचीत में असावधानी के कारण निकलने वाले प्रत्येक शब्द की घात में लगे रहते थे। तिस पर भी वह तो शुरू से आखिर तक वैसे ही निर्भीक, और बाल-सुलभ स्वभाव वाले बने रहे। मैं उन लोगों से मिला हूं, जो उन्हें अमेरिका में जानते थे और उन्होंने मुझसे कहा है कि लालाजी ने वहाँ पर भारत के राजनैतिक नेताओं के प्रति लोगों में गंभीर प्रतिष्ठा के जैसे भाव भर दिये हैं, वैसे शायद पहले और किसी ने नहीं भरे थे। मुझे विश्वास है कि जब मैं थोड़े समय बाद अमेरिका जाऊँगा तो लोगों का यह कथन अपनी आँखों सच्चा सिद्ध होता हुआ देखूँगा।

असहयोग के दिनों में वह फिर कैद किये गये। एक वकील की हैसियत से वह यह जानते थे कि उनकी गिरफ्तारी गैर-कानूनी है तथापि एक निष्क्रिय प्रतिरोधक के नाते वह उसके विरुद्ध कोई शिकायत नहीं कर सकते थे। इस कैद से उनके स्वास्थ्य को धक्का पहुँचा और जब वह जेल से छूटकर आये तो उनका आन्तरिक स्वास्थ्य और शरीर-संगठन बहुत बिगड़ चुका था। लेकिन फिर

भी राजनैतिक क्षेत्र में गरम दल को न अपनाते हुए उन्होंने अपने उसी संयमपूर्ण उदार मत का सहारा लिया।

एक बात उन्होंने दिल से स्वीकार की और वह थी खादी-आन्दोलन की बात। गर्मी और जाड़े के सब वस्त्र उन्होंने पंजाब की बनी खादी के पहनने का प्रबन्ध कर लिया था और सिवा खादी के दूसरी कोई चीज नहीं पहनते थे।

पिछले कुछ वर्षों में उन्हें बार-बार कई तरह के अपमान सहने पड़े थे। उस दिन इनकी पराकाष्ठा हो गई जिस दिन लाहौर रेलवे स्टेशन के बाहर उनपर और उनके बचानेवाले मित्रों पर लाठी के प्रहार किये गये थे। मेरे लिए इतनी दूरी से यह जान पाना कठिन है कि इन प्रहारों ने उनकी मौत को जल्दी बुलाने में कितना काम किया; लेकिन एक बात मैं जानता हूँ और वह यह है कि कमजोर दिल और दुर्बल स्वास्थ्य के लिए, जिससे वह अपने कारावास के बाद से पीड़ित रहते थे, इस तरह के आक्रमण काफी उत्तेजक होते हैं और यह आक्रमण ही उनके लिये घातक सिद्ध हुआ है। वह सदा से एक बहादुर आदमी थे, शूरों में शूर थे। और इस कारण उनकी दृष्टि से तो जिस मौत से वह मरे उससे अच्छी कोई मौत हो ही नहीं सकती। लेकिन हम लोग, जो उनसे इतना प्यार करते थे यह दिली इच्छा रखते थे कि वह अपनी जान को इस तरह जोखों में न डालते तो अच्छा होता। ६३ वर्ष की उम्र होते हुए भी सचमुच वह बूढ़े हो चुके थे क्योंकि उनका शरीर बिलकुल जर्जर हो गया था और पिछले

तीन वर्षों से तो वह बहुत ही अधिक बूढ़े होते जा रहे थे। इस दृष्टि से वह स्थान उनके योग्य नहीं था; फिर भी यह देख कर खुशी होती है कि वह कभी पलभर के लिए भी परीक्षा से पीछे न हटे, उलटे इतनी बहादुरी के साथ उन्होंने प्रत्यक्ष मृत्यु का सामना किया।

पंडित गोपबन्धु दास

बहुत वर्ष की बात है। मैं पंडित गोपबन्धु दास से पहले पहल विहार विद्यार्थी परिषद में मिला था। वे कुछ विद्यार्थियों को लेकर उड़ीसा से आये थे और आते ही अपनी उपस्थिति से सारी परिषद् को उन्होंने चमका दिया था। उस समय 'असहयोग' खूब जोरों पर था और हमारी आशाएँ खूब बढ़ी हुई थीं। बड़ी उत्सुकता से हम महान घटनाओं की आशा कर रहे थे। अब मुझे अच्छी तरह याद है कि किस तरह उसी परिषद् के मौके पर हिन्दुओं और पारसियों के साथ साथ मुझे भी एक मस्जिद में बुलाया था, और किस तरह मुसलमानों के नेता ने स्वयं मस्जिद के अन्दर हिन्दू-मुसलमान एकता पर भाषण देने के लिये मुझसे कहा था। शुद्ध खादी के कपड़े पहने पंडित गोपबन्धु भी वहाँ थे और वे भी बोले थे। वह बड़ा ही प्रभावोत्पादक और धार्मिक उत्साह-भरा प्रसंग था। परिषद् में हमने खुले दिल से राष्ट्रीय शिक्षा के प्रस्ताव को

मंजूर किया था। परिषद् में आध्यात्मिक उत्कटता दिखाई देती थी जो इस तरह की सभा में मैंने बहुत कम देखी है। गोपबन्धु सारी परिषद् के प्राण थे। और मैं देखता था कि विद्यार्थी भी उन्हें अधिक हृदय से कितना प्यार करते थे।

इसके बाद उड़ीसा की अवस्था के संबंध में वे शान्ति-निकेतन में मुझसे मिलने के लिये आये थे। उस समय वे मुझे इतने बीमार नजर आये कि उन्हें देख कर फौरन ही मुझे उनके लिए बिस्तर तैयार करना पड़ा। बुखार तो था ही 'पर वे बिस्तर पर पड़ने को राजी कब होने को थे? किन्तु थोड़ी ही देर बाद ऊँचा बुखार चढ़ आया, हाथ और सर जलने लग गये। और जब तक वे अच्छे न हो गये, मेरे ही पास रहे। बीमारी के ऐसे प्रसंगों पर, और इधर ये प्रसंग बहुत बढ़ गये थे, उनसे निकट परिचय करने, मित्र और भाई की तरह प्यार करने का मुझे अवसर मिला। वे बीमारी से कभी डरने वाले न थे। बल्कि बराबर उनसे लड़ते रहे। उनका धीरज और सहन-शीलता अवर्णनीय थीं। पर उनके गरीब शरीर को बहुत भारी कष्ट सहने पड़े थे। जिनके कारण शरीर बहुत क्षीण हो गया था।

पुरी में तो मैं उनके मित्र और मेहमान की हैसियत से बहुत समय तक दिन रात उनके साथ रहा। बड़े प्रेम से वे मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति करते और मेरी असीम चिन्ता करते। हमें बाढ़-पीड़ित प्रदेश में एक नदी में से होकर जाना था, जो पुरी के पास से चिल्का सरोवर की तरफ बहती थी।

कठिनाइयों की सीमा न थी। सब बातें प्रतिकूल थीं। बड़ी बोट का मिलना असम्भव था। इसलिए हमें एक देशी नाव से ही काम चलाना पड़ा। पानी बराबर एकसा बरस रहा था। ऊपर कोई आसरा न था। ऐसी अवस्था में हमारे लिए सचमुच यह एक बड़ा भारी प्रश्न था कि हम उसी समय रवाना हो जाँय या जब तक घटा साफ़ न हो जाय तब तक ठहर जावें। गोपबन्धु ने इसका निर्णय मुझ पर छोड़ दिया, और जब मैंने उनसे कहा कि इस वर्षा में तो बाढ़ पीड़ितों को हमारी सहायता की और भी आवश्यकता है, तब उन्हें बहुत खुशी हुई। उनके दिल में यह डर था कि कहीं मैं जाने की बात को जरा और न टाल दूँ। पर उन्होंने अपने जाने की इच्छा को मुझ पर किसी प्रकार प्रगट नहीं किया।

वह रात मेरे लिये चिरस्मरणीय रहेगी। अपने निश्चित स्थान पर हमारे पहुँचने के पहले अंधेरा तो हो ही चुका था। रात ऐसी अंधेरी थी कि मल्लाह ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। उस घोर अंधकार में नदी के किनारे को पहुँचने की कोशिश करते हुए हमारी किश्ती कई बार कीचड़ में फँस गई। अन्त में हम किसी तरह किनारे पर पहुँचे और सारी रात खुले मैदान में बितायी। थोड़ी देर बाद कुछ देहाती लालटेन और सूखे कपड़े लेकर आये। रात किसी तरह कष्ट से बीती और सुबह होते ही हम आगे बढ़े। गाँव तो टापू बने हुए थे। जैसे हम एक गाँव से दूसरे गाँव को चले कि निर्दय वर्षा फिर शुरू

हुई। गोपबन्धु की सहन शक्ति अनन्त थी। देहातियों के प्रति उनका अतुल प्रेम देखने लायक था। दर असल वही उनके उत्साह का उद्गम था। वह समय ऐसा बढ़िया था कि उस समय की कई मनोरंजक कहानियाँ लिखी जा सकती हैं। यहाँ तो मैं केवल उनकी अप्रतिम करुणा का ही उल्लेख करूँगा। छोटे छोटे बालक, वे गरीब स्त्रियाँ, वे मूक पशु सब के लिये उनके विशाल हृदय में स्थान था। इन्हें कभी छोड़ने की उन्हें इच्छा ही नहीं होती थी।

किसानों के प्रति उनके हृदय में जो प्रेम था उसको भली भाँति देखने का अवसर मुझे इस समय मिला था। आज प्रेस के कार्यों से उन्हें पुरी अथवा कटक में रहना पड़ता था, उनका हृदय तो हमेशा गाँवों और गाँवों के लोगों के साथ ही रहता था। उनकी रहन सहन,पोशाक आदि भी गाँवों के लोगों की ही थी। उन्हीं की तरह शौक की वस्तुओं से गोपबन्धु बिलकुल अलग रहते थे। देहाती लोगों के समान ही उनके अन्दर ईश्वर में गहरी और निर्व्याज श्रद्धा थी।

जब मैं बाद में उड़ीसा गया तब वे कटक में रहते थे। इस बार उनका जीवन पुरी की अपेक्षा भी अधिक कष्टमय और सहन शील था। उन्हें सबसे भारी दुख तो इस बात पर हुआ कि उस समय उनका कमरा इतना छोटा था कि मुझे वे अपने साथ नहीं रख सकते थे। यद्यपि मैंने लाख कहा कि आप मेरी तरफ़ से किसी असुविधा का ख्याल न करें तथापि वे इस तरह

मानने वाले न थे। उन्होंने मेरी व्यवस्था अपने मित्र गोपबन्धु चौधरी के यहाँ कर दी। पर इससे क्या मैं रोज उनके पास जाता और वे मेरे पास आया करते। हमारा प्रेम हमें एक दूसरे से अधिक देर तक दूर रहने न देता था।

स्वभाव से वे मेरे परिचित लोगों में सबसे अधिक प्रेमी और सरल पुरुषों में थे। दूसरे की सेवा सहायता करते समय वे कभी अपना ख्याल तक न करते थे। उनके त्याग की कोई सीमा न थी। उनकी सारी आध्यात्मिक शक्ति की जड़ स्पष्ट ही उनकी अटल ईश्वरनिष्ठा थी। चाहे कितनी ही कठिनाई हो, उनकी सुबह शाम की प्रार्थना कभी नहीं टलती थी। उनका हृदय तो बिलकुल शुद्ध था, जैसा की एक सच्चे ब्राह्मण का होना चाहिए। और इसका नमूना उन्होंने मेंरे सामने रख दिया कि एक सच्चे ब्राह्मण को कैसा होना चाहिए।

मेरे प्रति उनका प्रेम इतना गहरा था कि मेरे हृदय पर उसका बड़ा असर होता था। और जब मैं उनसे दूर रहता तो उनके पत्रों में भी वही प्रेम टपकता था। जब मैंने अखबारों में पढ़ा कि वे इस लोंक से चले गये हैं तो उस पर विश्वास करना मेरे लिये कठिन हो गया। उड़ीसा पर कई दुःख पड़े हैं। पर उनके भाई के बाद इतनी जल्दी गोपबन्धु की मृत्यु खास कर एक बड़ा भारी प्रहार हुआ है। अपने भाई के बाल-बच्चों के पालन पोषण का भार भी गोपबन्धु पर पड़ा था। अब उनके मित्र और सबंधी गोपबन्धु की स्मृति में, जिन्होंने कि अपने भाइयों के

लिये अपने प्राण तक भी दे दिये थे, अपने ऊपर यह भार उठा लेंगे।

स्वामी श्रद्धानंद

हिन्दुस्तान आने के बाद तुरत ही १९०४ में मुझे दिल्ली में अपने शुरू शुरू के दिनों में स्वामी श्रद्धानंद की याद आती है। उस समय संसार उनको गुरुकुल, काँगड़ी, हरिद्वार के संस्थापक और आचार्य महात्मा मुंशीराम के रूप में जानता था।

वैदिक दर्शन और आर्य संस्कृति के पंडित के रूप में वे अक्सर दिल्ली आया करते थे। वे किसी खुले मैदान में शामियाने के नीचे व्याख्यान दिया करते थे। वे हिन्दी में भाषण करते थे और उन्हें समझना मेरे लिए बड़ा मुश्किल होता था। मगर खुद महात्मा मुंशीराम के चुम्बकीय व्यक्तित्व ने तुरत ही मुझे बहुत जोरों से आकर्षित किया। मुझे आज भी उनकी एक रोचक दलील याद है जिस पर मेरा ध्यान खिंचा था। उन्होंने कहा, "देखिए, ये यूरोप वाले किस तरह रात रात भर पार्लियामेन्ट में बैठ कर और आधी रात के बाद तक पार्टियों और नाच जारी रख कर रात को दिन बना बैठते हैं। वैदिक काल की आर्य-सभ्यता में किसी ऐसी अस्वाभावक और बनावटी स्थिति को जगह नहीं थी। वे ब्राह्ममुहूर्त में सूर्योदय के पहले उठ कर भगवद् भजन से दिन का काम शुरू करते थे और

सूर्यास्त के बाद तुरत ही रात में शांति और सुख के लिए प्रार्थना करके काम खत्म करते थे। हमारे आर्य पूर्वजों को ईश्वर के नियमानुसार चलने का ढंग मालूम था। मगर इस आधुनिक युग ने सभी बातें उलट पुलट डाली हैं।"

महात्मा मुंशीराम की यह दलील अपनी सादगी के कारण ही मुझे जँची। मगर मुझ पर तो सबसे अधिक असर उनके चेहरे की दयालुता का ही पड़ा।

मुझे सन् संवत् ठीक याद नहीं है। उस समय मैं हिन्दुस्तान में अभी बिलकुल नया आदमी था और जैसा कि मैंने कहा है, उर्दू या हिन्दी कोई बात मेरे लिए ठीक ठीक समझनी मुश्किल थी। मगर मैं भाषण-कर्त्ता के भलेपन से इतना खिंच कि मैं साहस कर के उनके मकान पर पहुँच गया और उनसे खुद मिलने की प्रार्थना की, मुझे उनकी वह खुशी अब तक याद है जिससे उनका चेहरा खिल उठा जब उन्होंने घर में मेरे घुसते ही बड़े प्रेम से मेरा स्वागत किया। पहले वे कुछ नहीं बोले मगर हम दोनों एक दूसरे की आँखों को कुछ देर तक देखते रहें। मेरा विश्वास है कि 'प्रथम दर्शन प्रीतिः' का यह एक उदाहरण था। उनकी पवित्रता, दिल के अच्छेपन, गंभीरता धार्मिक प्रवृत्ति और हिन्दुस्तान के ज्वलंत प्रेम से मैं उनके पास खिंच गया।

पहले वे हिन्दी में बोले मगर मेरी मुश्किल देखते ही उन्होंने

मेरी कमजोरी पर तरस खाते हुये शुद्ध अंगरेजी में बोलना शुरू किया।

अगर दिल्ली की उस पहली मुलाकात का मैं सही चित्र दे सकता! इसी समय मेरे मन में दिल्ली के पढ़े लिखे लोगों के बीच अराष्ट्रीयता के विरुद्ध भाव पैदा होने लगे थे। कैम्ब्रिज से ताजे ताजे पास हुये होने से मुझे उसमें कुछ झुठाई भी मालूम पड़ी। सिर्फ हिन्दुस्तानी ईसाइयों में ही नहीं बल्कि पढ़े लिखे गैर ईसाई हिन्दुस्तानियों में भी जिन्हें मैं रोज ही सेंटस्टिफेन कालेज में पढ़ाया करता था, पोशाक और रहन सहन का बिलकुल परिवर्त्तन देख कर मुझे घृणा हो आती थी।

यहाँ इनके विरुद्ध महात्मा मुंशीराम थे जो मुझे वही वस्तु दे रहे थे जिसकी प्यास मेरे अन्तस्तल को थी यानी सच्चे हिन्दुस्तान की जीती जागती तसवीर। इसके कुछ दिनों बाद मैंने मुंशी जकाउल्ला के पास से भी हिन्दुस्तान के आत्मा की वही छाप पायी और उनका भी मैं वैसा ही भक्त बन गया। एक एक विचित्र ही रूप से उन्होंने मुझे वही चीज दी जो मैंने महात्मा मुंशीराम से पायी थी, यानी, भारत वर्ष की आत्मा का सही सही चित्र।

पूज्य नेहरूजी

१९०१ में, सम्पत्ति-विषयक एक बहुत बड़ा मुकदमा दायर करने और लड़ने के लिये मेरे स्वर्गीय पिताजी का रहना प्रायः

प्रयाग में होने लगा। उसी समय पहले पहल मुझे पंडित मोतीलालजी के दर्शनों और साहचर्य्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनका नाम सम्भवतः उसके एक वर्ष पहले से सुनता रहा हूँगा; क्योंकि मुकदमे की बातचीत उतने ही समय पहले से की जा रही थी। पंडितजी उसमें हमारे प्रमुख वकील होनेवाले थे, अतएव घर में अकसर उनके नाम का उल्लेख हुआ करता।

जिस समय प्रयाग में हमारा डेरा पड़ा उस समय मैंने आठवाँ वर्ष पूरा करके नवें में पैर रखा था, तो भी पिताजी सदैव अपनी संगति में रखते और मित्र-जैसा सौहार्द्र और व्यवहार करते। फलतः उस समय भी मेरे सहज ज्ञान में बहुत कुछ प्रौढ़ता और व्यापकता आ चुकी थी। इसी बूते पर मैंने ऊपर पण्डितजी का साहचर्य्य कहने की धृष्टता की है।

पण्डितजी से और मेरे मामाजी से बहुत पुरानी गाढ़ मैत्री थी। यहाँ तक कि उसी नाते वे मेरी माताजी को अपनी बहन, पिताजी को बहनोई, और मुझे अपना भाँजा मानते थे। अतएव, वे केवल हमारे वकील ही नहीं, स्वजन भी थे। सो, जितने दिन हम प्रयाग रहते, शाम को प्रायः उन्हीं के यहाँ बैठक होती।

मुझे उनके यहाँ जाने का वह पहला दिन याद है, जब वे अपने विशाल दफ़र में, जिसकी दीवारें किताबों की आलमारियों से ढकी हुई थीं, बैठे हुए थे। पिताजी के संग मामाजी भी थे। वे लोग उन्हें कागज समझा रहे थे और मैं कुतूहल से एक ओर देख रहा था। उनके एक नातेदार उन्हें एक गुदड़ी दिखला रहे

थे—वह पण्डितजी के आज्ञानुसार किसी साधू के लिये तैयार की गई थी। विलायती कपड़ों के नमूनों के जो टुकड़े आते हैं, उन्हीं को जोड़कर बनाई गई थी।

'आनन्द-भवन' और उसका बाग उन दिनों बन रहा था। जैसे जैसे मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूँ, उसके क्रम-विकास का दृश्य मेरी आँखों के सामने घूम रहा है।

यद्यपि पण्डितजी उस समय पाश्चात्य सभ्यता में निमग्न थे किन्तु उनके भीतर भारतीयता की वह ज्योति टिमटिमा रही थी जो आगे चलकर देश-व्यापी उजाला फैलानेवाली थी। मुझे याद है कि अपने बाग के लता-गृह में उन्होंने जो कृत्रिम शैल बनाया था उसमें शिवजी की एक प्रतिमा रक्खी थी, जिसकी जटा से गंगा निकलकर उस निकुञ्ज में वंक-गति से फैल गई थीं। फुहारे भी उन्होंने विलायती न लगाकर, जयपुर से मँगाये थे और उनका ढंग भी देशी था—शायद बीच में एक ऊँचा फुहारा था और उसके चारों ओर दिग्गज बने थे, जो अपने उठाये हुए शुण्डों से धारा निकालते थे। इतना ही क्यों, उन्होंने अपने निवास का नामकरण ही "......विला" या "......कैसिल" न करके 'आनन्द-भवन' क्यों किया?

नये 'आनन्द-भवन' का भारतीय स्थापत्य, तो उनकी उस अन्तरात्मा का मूर्त्त रूप है, जो महात्माजी की अनुयायिता में, उनके हृदय में उद्बुद्ध हो उठी थी।

आज तो हम वैद्यक, हकीमो के कायल भी हो रहे हैं, उस

समय तो ये चिकित्सा-प्रणालियाँ जंगलियों की चीज़ समझी जाती थीं; किन्तु साहबी में रंगे पण्डितजी ने इनका व्यवहार कभी न छोड़ा था। जब जैसी आवश्यकता होती, चिकित्सा करते।

यही हाल देशी व्यायाम के भी थे। वे नित्य दण्ड-बैठक किया करते थे।

ऐसी छोटी-छोटी बातों को मैं बहुत महत्त्व देता हूँ, क्योंकि इनसे मनोवृत्ति का पूरा पता चलता है।

शुरू ही से पण्डितजी के तीन गुण मेरे हृदय पर अंकित हो गये थे—एक तो तेजस्विता, दूसरे स्नेहबन्धन का निर्वाह तीसरे उन्मुक्त-हृदयता।

मुझे अच्छी तरह याद है कि पिताजी से उनसे खूब हँसी दिल्लगी हुआ करती थी; किन्तु निहायत शिष्ट और संयत, चुभते हुए व्यंगों-द्वारा। पंडितजी बड़ी ही हँसोड़ प्रकृति के आदमी थे और उनका क़हक़हा—गूँजता हुआ, ठनकता हुआ, उन्मुक्त हृदय को प्रफुल्लित कर देनेवाला होता था। अस्तु। उन दिनों का वह हास-विलास, जिसका, कारण वही स्वजन स्नेह था, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है—उस गंभीर दायित्व के रूप में परिवर्तित हो गया जो पिताजी के असमय स्वर्गवास हो जाने से पंडितजी पर, हम लोगों के सम्बन्ध में आ पड़ा था। फलतः उस मुकद्दमे में उन्होंने हमलोगों का यथोचित लाभ कराते हुए संधि कराई थी और आगे भी जब जब जिस किसी विषय

के परामर्श की आवश्यकता हुई, उसे पूर्ण मनोयोग के साथ, हजार का हर्ज करके बराबर केवल स्वजन-स्नेह के नाते देते और करते रहे। इतना ही नहीं, कितनी ही छोटी छोटी बातों के द्वारा, उन्होंने वह घरावट और आत्मीयता बराबर कायम रक्खी थी। इसका कुछ आभास आगे मिलेगा। इसी सम्बन्ध में यहाँ एक ऐसी घटना का उल्लेख करता हूँ जिससे उस पुरुषसिंह की सहृदयता का यथेष्ट परिचय मिलता है—

१६२२ में, जिस समय, असहयोग-आन्दोलन पूरे ओज पर था, उस समय पंडित जी कहीं रेल में जा रहे थे। अलीगढ़ में या उसके आस पास, उसी फर्स्ट क्लास डब्बे में यू० पी० के एक देशी आई० सी० एस० भी आ बैठे। वे उन दिनों उद्यम विभाग के डाइरेक्टर थे, अतएव दौरा किया करते थे। पंडितजी से उनका खूब परिचय था, और कौन ऐसा व्यक्ति था, जिस से पंडितजी का परिचय न रहा हो वा जिसने पंडित जी के आतिथ्य और आश्रय का उपभोग न किया हो। अस्तु। कुछ देर बातचीत होने पर पंडितजी ने उनसे कहा मैं यह नहीं चाहता कि तुम मेरे संग सफर करते हुए देखे जाओ और तुम पर आपत्ति आवे, इसलिये मैं दूसरे डब्बे में जाता हूँ। वे रोकते ही रह गये, किन्तु पंडितजी ने एक न सुना, दूसरे डब्बे में चले ही गये। यह घटना, अपने आत्मीयों के प्रति, चाहे वे किसी भी पक्ष के हों, पंडितजी की शुभैषणा और शालीनता की परिचायक है। इसका उल्लेख मैंने अपने एक ऐसे मित्र से

किय [illegible]नकी पंडितजी [illegible] बहुत घनिष्टता थी, किन्तु वे इस [illegible] [illegible]से मानने को तैयार न हुए कि पंडितजी ऐसी कम-जोरी [illegible]ानेवाले आदमी न थे; किन्तु इसमें कमजोरी का तो सवाल [illegible] है, यह तो केवल उनके प्रीति-पालन का पौरुष-पूर्ण उदाह[illegible]। मैं तो स्वयं कह चुका हूँ कि तेज और निर्भीकता उनका [illegible]भाव था—उनके सामने तो बड़े बड़े तेजोहत हो जाते थे। अब उसी का उल्लेख करता हूँ—

उनका तेज, जिस घटना के कारण पहले पहल मेरे हृदय पर अंकित हुआ था, वह उनका प्रयाग के कलक्टर से एक झगड़ा था—जो आनंद-भवन की चहारदीवारी के कारण हुआ था। संभवतः १९०२ की बात है। उन दिनों कलक्टर ही म्युनिसिपल बोर्ड का चेयरमैन भी हुआ करता था। उस हैसियत से उसका कहना था कि पंडितजी ने अपनी दीवार म्युनिसिपलिटी की जमीन पर चढ़ाकर बना ली है। पंडितजी ने ऐसा नहीं किया था; किन्तु उसे इसी बहाने उनको दबाना था। शायद कोई और घटना भी हो गई थी। वह इस समय याद तो नहीं; किन्तु थी वही इस झगड़े की पृष्ठपट। उसी का बदला चुकाने के लिये यह काण्ड रचा गया था। जो हो, एक ओर तो वह तुला हुआ था कि दीवार गिरवा कर और पंडितजी को जेल भिजवाकर ही साँस लूँगा; दूसरी ओर पंडितजी भी दृढ़ थे कि कैसे दीवार गिरती है। इसी बात को लेकर झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि सारे नगर पर आतंक छा गया—उन दिनों कलक्टर से बैर

करना मानो इन्द्र से शत्रुता मोल लेनी थी; किन्तु पंडितजी बाल भर टस से मस न हुए और अन्ततः कलक्टर को मुँह की खानी पड़ी। दीवार उसी स्थान पर खड़ी हुई, और अब तक खड़ी है, जहाँ उसकी नीव पड़ी थी।

इसी के कुछ पहले, शायद हमलोगों के प्रयाग जाने के कुछ मास पूर्व, एक मुकदमे में पंडितजी ने पुलीस के विरुद्ध बड़े जोरों से पैरवी और कार्रवाई की थी और जवान दे देने के कारण एक ऐसे हेंकड़ व्यक्ति को पुलीस के चंगुल से बचा लिया था—जिसने कितने ही पुलीसवालों और कई थानेदारों को ठोंक-ठाक ठिकाने कर दिया था। अस्तु। जब हमलोग पहले पहिल प्रयाग गये थे तो उसकी चर्चा ताजी ही थी, किन्तु उक्त घटना के समय तो मैं प्रयाग ही में था।

यों तो उन दिनों पंडितजी अंग्रेजी सभ्यता में सराबोर थे। इतना ही नहीं, अंग्रेजों की योग्यता और कार्यक्षमता में भी उनका हार्दिक विश्वास था, किन्तु इसी तेजस्विता के कारण प्रयाग-निवासी सदा उन्हें अपना समझते थे और आदर करते थे; क्योंकि वे जानते थे कि चाहे वे कितने ही अंग्रेज-भक्त क्यों न हों किन्तु कभी वे ऐसी बात न करेंगे कि उनकी वा उनके नगर की बात नीची हो।

इसी तेजस्विता के कारण उनके चरित्र में ऐसी दृढ़ता थी कि—हाँ करो सो हाँ करो, ना करी सो ना करी। जिस दिन से असहयोग के अखाड़े में उतरे, उस दिन से जो ऐश्वर्य्य-विलास

का जीवन, वस्त्र पर लगे हुए तिनके की तरह फेंक दिया सो फेंक दिया और जैसे उस रंगमंच पर अपने ढंग के निराले और प्रमुख पात्र थे, वैसे ही इस क्षेत्र में भी। भोगों के परिग्रह और त्याग का ऐसा विलक्षण उदाहरण या तो प्राचीन काल के राजर्षियों ही में पाया जाता है या उनमें ही।

जिस समय उनकी वृत्ति त्यागोन्मुख हो रही थी, उस समय उन्होंने मुझे एक बड़ा महत्त्वपूर्ण पत्र लिखा था। उन दिनों वे डुमराँव के एक बहुत बड़े मुकदमे में वकालत करते थे। स्वर्गीय दास महोदय उनके विपक्ष में थे। १९२० की बात है। जुलाई के लगभग उनका एक पत्र आया कि बनारस के मगही पानों का एक पार्सल प्रति सप्ताह भिजवा दिया करो, उसमें चार ढोली से कम पान न रहें और जब तक भी पान मिलते जायँ, पार्सलों का क्रम बराबर जारी रहे। जुलाई में, जब की यह बात है, बढ़िया पान साधारणतः ढाई-तीन रुपये ढोली हो जाता है। उस भाव से पान जाना जो शुरू हुआ, तो बीस-पचीस रुपये ढोली तक भाव पहुँचने पर भी वह सिलसिला जारी रहा। साथ ही उनकी यह फर्माइश भी थी कि अपनी माताजी से बनवा कर कत्था भी भेजते रहना। माताजी एक खास प्रकार से कत्था तैयार करती हैं कि वह बिलकुल सफेद हो जाता है और खाने में उसमें कड़ुआहट या हीक बिलकुल नहीं रह जाती। मुझे याद है कि बचपन में जब कत्थे की ऐसी पपड़ी जमाई जाती तो उसकी मिठास के कारण मैं यों ही उसे चबाया करता।

अस्तु । पान के साथ प्रतिसप्ताह ऐसे कत्थे का वण्डल भी जाता था ।

अचानक पण्डितजी का वह पत्र मुझे मिला, जिसका मज़मून सुनाने के लिये उक्त वर्णन दिया गया है। उसमें आपने लिखा—

"अपनी माताजी को कत्थे के लिये बार बार धन्यवाद देना। अब उन्हें कष्ट उठाने की आवश्यकता न रहेगी। न अब पान भेजने की ज़रूरत है। तुम्हें मालूम होगा कि मैं असहयोग आन्दोलन में प्रवृत्त होने के लिये प्रतिज्ञावद्ध हो चुका हूँ, अतएव अपनी बुरी आदतों को छोड़ रहा हूँ।.....तुम इस आन्दोलन को कैसा समझते हो?"

शुरू ही से मुझे इस आन्दोलन पर पूर्ण विश्वास था और मैं उसके तत्त्व पर कुछ विचार भी कर चुका था। उन्हीं का निर्देश करते हुए मैंने लिखा कि मुझे तो इस शस्त्र पर पूरा भरोसा है।

इस पत्र-व्यवहार के ठीक एक वर्ष बाद, पंडितजी से संयोग वश रेल पर मुलाकात हुई। उस समय वे असहयोग में पग उठे थे। उनके फर्टक्लास डब्बे में एक अंग्रेज भी बैठा था। किसी स्टेशन पर मुझे ऐसा संदेह हुआ कि पंडितजी से उससे झगड़ा हो गया है। अतएव मैंने उनसे जिज्ञासा की। उन्होंने कहा—"अजी यहाँ तो नानवायलेन्ट नानकोआपरेशन (अहिंसात्मक असहयोग) है; यहाँ झगड़े का क्या काम!"—चण्डरश्मि

का इस शीतरश्मि के रूप में दर्शन पाकर मैं गद्‌गद्‌ हो उठा। साथही—'गुरुहिं प्रणाम मनहिं मन कीन्हा'—धन्य हैं बापू जिनके प्रभाव का यह एक कुतुबमीनार मेरे सामने था।

बिना जीवट के त्याग भी असम्भव है। पंडितजी में यदि पर्याप्त प्राण न होता तो वे उसी लगन के साथ निवृत्ति में प्रवृत्त न हो सकते जिस लगन के साथ प्रवृत्ति से निवृत्त हुए थे, अथवा प्रवृत्ति में प्रवृत्त थे। जो अल्प-प्राण हैं, क्या उनकी प्रवृत्ति, क्या निवृत्ति!

पंडितजी का रहन-सहन शुरु ही से बहुत साफ़-सुथरा और ठाट-बाट का था। किन्तु इतना ऊँचा उठने पर भी उन्होंने कभी अपने को लगाया नहीं। उनमें प्रकृत बड़प्पन था अतः उन्हें इसकी आवश्यकता ही न थी; उनमें तो एक स्वाभाविक शासन था जिसके अधीन लोग यों ही हो जाते थे।

पंडितजी का स्वभाव सदैव निर्लिप्त रहा। जब उन्होंने अपना मीरगंजवाला घर छोड़ा तो वहाँ की विलासिता और समाज वहीं रह गया। इसके बाद 'आनन्द भवन' का युग प्रारम्भ हुआ जिस दिन उससे उपराम हुआ तो फिर उसकी ओर से भी पूर्ण सन्यास हो गया—यहाँ तक कि उसको स्मृतियों को जीवित रखनेवाला वह आनन्द-भवन ही स्वराज्य-भवन के रूप में परिणत कर दिया गया; वे उसे उसी रूप में अपना सके।

किन्तु इस निर्लिप्तता का अभिप्राय यह नहीं कि वे अपने भिन्न भिन्न युगों के साथियों को भी भूल गये। नहीं; उन्होंने

जिससे एक बार नाता जोड़ा उसे आजीवन निबाहा। हाँ, वे लोग ज्यों के त्यों फिसड्डी बने रहे और नर-सिंह अपनी कमजोरियों को कुचलता हुआ ऊँचा उठता गया।

पण्डितजी सच्चे हिन्दू गृहस्थ थे—स्वजन सम्बन्धियों के पालन का उनमें प्रकृत गुण था; किन्तु उस रूप में नहीं जैसा आज कल आमतौर पर हिन्दू-कुटुम्बों में प्रचलित है। ऐसे कुलों में कितने ही स्वजन-सम्बन्धी मुफ्तखोरी करते हैं; एक को उनके पीछे मरना पड़े, यही नहीं, देश की अकर्मण्यता को भी वे और बढ़ाते जाते हैं। किन्तु पण्डितजी तो रूढ़ियों से लड़ने और तोड़ने वाले थे। उन्होंने अपने भाइओं-भतीजों को अपनी छत्र-च्छाया में रखकर खूब उन्नत एवं विकसित किया और जब वे अपने पैरों के बल खड़े हो गये तो उन्हें स्वतन्त्र कर दिया। वे इस सम्बन्ध में अकसर कहा करते कि बड़े पेड़ की छाया में छोटे पेड़ नहीं पनप पाते; यदि उन्हें भी बड़ा होने देना है तो उन्हें भी अलग रोपना चाहिए। और, इसी सत्य को वे कार्यान्वित भी करते थे। श्री० लाड़लीप्रसाद जुतशी तथा पं० मोहनलाल नेहरू-प्रभृति कोई आधे दर्जन से ऊपर नेहरू जो कुछ भी हैं, पण्डितजी के बनाये हुये हैं।

अत्यन्त उच्छृंखल जीवन व्यतीत करते हुए भी पण्डितजी समय के बड़े पाबन्द थे। यही कारण है कि किसी काम में कभी न पिछड़ते थे। एक बार मैं उनके यहाँ बैठा था कि एक गैरिक-वसन-धारी आये व्यवहार से मालूम हुआ कि वे पण्डितजी के

पूर्व परिचित हैं। पण्डितजी ने बताया कि बाबाजी उत्तम गायक हैं, इनसे अधिक सुकण्ठ व्यक्ति मैंने नहीं पाया। फिर उन्होंने बाबाजी से कुछ सुनाने की फर्माइश की। मैं भी सुनने के लिये उत्कण्ठित था। इसके बाद पण्डितजी अपने काम में लग गये और मैं इन्तजार करने लगा कि काम पूरा करके वे गाना सुनेंगे; किन्तु काम पूरा होते न होते उनके उठने का समय आ गया था। उन्होंने कहा—बाबाजी, आप बैठे ही रह गये! बाबाजी ने उत्तर दिया कि मैं बाजे की प्रतिक्षा में था, अब मँगाइए तो कुछ सुनाऊँ। पण्डितजी ने कहा—अब कहाँ, यहाँ तो सब काम टाइम से होता है। आपने पहले ही बाजा मँगाया होता! खैर, फिर कभी। पण्डितजी भी उस समय गाना न सुन सकने के कारण कुछ उदास हो गये थे। मैं तो था ही; किन्तु उनकी समय की पाबन्दी मेरे हृदय में घर कर गई।

अब मैं पुनः अपने बाल्यकाल की ओर लौटता हूँ।

पहले ही कह चुका हूँ कि पंडितजी में हृदय की उन्मुक्तता का भी बड़ा गुण था। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब पिताजी के संग मेरी शाम की बैठक उनके यहाँ होती तो ऐसा दिन न जाता कि वे मुझसे कुछ न कुछ बातचीत न करते रहे हों। जिस गोष्ठी में एक से एक चुने हुए व्यक्ति का जमघट होता था वहाँ एक बालक से भी बातें करना—हृदय की उन्मुक्तता नहीं तो और क्या? मैं महापुरुष कहे जानेवालों के ऐसे समाजों को भी जानता हूँ जहाँ बालकों का मुँह खोलना भी अपराध है। अस्तु।

चित्रकारी और संग्रह की ओर भी मेरी उस समय के पहले ही से प्रवृत्ति थी। पंडितजी और उनकी श्रीमती का एक रँगा हुआ फोटो उनके टेबुल पर रक्खा रहता था। मुझे उसकी रँगाई पसन्द न आई। मैंने उसके दोष उन्हें बतलाये, जिससे वे खुश हुए। उनसे मैंने कहा—मैं आपका चित्र इससे अच्छा रँग दूँगा। खेद है, मैं वादा करके ही रह गया। संभवतः पंडितजी ने इस सम्बन्ध में कई वार टोका भी था।

उन्हीं दिनों पंडितजी के भतीजे श्री०ब्रजलाल नेहरू विलायत पढ़ने के लिये गये थे। मैंने पंडितजी से कहा कि उन्हें लिखकर मुझे भिन्न-भिन्न देशों के सिक्के मँगवा दीजिए। पंडितजी ने सहर्ष इसका प्रबन्ध कर दिया।

१९०४ में पिताजी असमय मृत्यु के साथ साथ मेरे जीवन का वह परिच्छेद अकाण्ड में ही विच्छिन्न हो गया। अब उन दिनों की याद दिलानेवाला केवल एक चित्र रह गया है—जिसमें पंडितजी, पिताजी और मैं, एक साथ हैं।

किन्तु पंडितजी को मेरा स्मरण बना रहा। पिताजी के देहावसान के कुछ दिनों बाद माताजी से मेरे विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने चिताया था कि तेज लड़के बहुत अच्छे भी बन सकते हैं और बहुत बुरे भी। अतएव, आप उसका बहुत ध्यान रखियेगा।

इसी प्रकार, सन् १९१६ में, राष्ट्रपति जवाहरलाल के विवाहोपलक्ष में, जो गोंठ (गार्डनपार्टी) उनके यहाँ हुई थी,

उसकी अपार भीड़ में भी उन्होंने मेरी अनुपस्थिति तजवीज ली थी और उसका उलाहना दिया था। इन आत्मीयताओं के कारण हृदय पर उनकी जो स्मृति अंकित है, उसे मैं बहुत ही महत्त्व की समझता हूँ; राजनीतिक महापुरुष के रूप में उनका जो चित्र मेरे हृदय में है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण।

कला-परिषद् की स्थापना के बाद मैंने पण्डित जी से उसका सदस्य होने की प्रार्थना की। उसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया और मुझे प्रोत्साहन दिया। सन् १९२५ के कानपुर-कांग्रेस-प्रदर्शिनी में कला-परिषद् के बहुमूल्य चित्रों से जो चित्रशाला सजी गई थी, उसे देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए थे। एक रोज सपरिवार उसके देखने में घण्टों विताया था। कला-सम्बन्धिनी मेरी प्रवृत्ति का परिचय उन्हें मेरे बचपन से था ही, आज यह सब देखकर उसके प्रति उनके हृदय में एक वात्सल्य पूर्ण सद्भाव ने स्थान पा लिया था, जिसे उन्होंने एक बार बड़े ही सुन्दर व्यंग्य-द्वारा अभिव्यक्त भी किया था—

१९२६ की बात है। मैं किसी कार्य से प्रयाग गया हुआ था। अकस्मात् पण्डितजी का बुलावा आया। जाकर मैं उनसे मिला। उस समय प्रतापगढ़ से श्री० सी० वाई० चिन्तामणि प्रान्तीय कौंसिल के लिये खडे हुए थे। स्वराजी-दल उनका विरोध कर रहा था और अपना उम्मेदवार खड़ा करना चाहता था। इसी सम्बन्ध में उन्होंने मुझे याद किया था। वे मुझे ही उनके विरुद्ध खड़ा किया चाहते थे, क्योंकि उन दिनों श्री०

एन० सी० मेहता प्रतापगढ़ के डिप्टी कमिश्नर थे—और ऐसा ख़याल किया जाता था कि वे चिन्तामणि का अनुमोदन कर रहे हैं। उन्हें इससे विरत करने के लिये यही उपाय था कि मैं खड़ा किया जाऊँ, क्योंकि उनसे मेरा भाईचारा है; अतः मेरे खड़े होने से वे धर्म-संकट में पड़ जाते। किन्तु राजनीति कभी भी मेरा क्षेत्र नहीं रहा है। जब जब मैं उसमें प्रवृष्ट किया गया हूँ, तब तब मैं ऊब कर भागा हूँ। यही बात मैंने उनसे भी निवेदन किया। इसपर उन्होंने जो उत्तर दिया, वह बहुत ही मार्मिक व्यंग्य था। उन्होंने कहा—"मैंने तो पहले ही कहा था कि कृष्णदास तो आर्टफुल आदमी हैं, उनसे इनसे क्या सम्बन्ध!" इस आर्टफुल शब्द में बड़ी ध्वनि है, क्योंकि इसका शब्दार्थ तो है कलापूर्ण, किन्तु व्यंग्यार्थ है फ़ितरती। मुझे उनकी यह बात बहुत ही रुची और इसे मैंने अपने काम का एक बहुत बड़ा सार्टिफिकेट समझा।

इस तरह के व्यंग्य के पंडितजी बादशाह थे, जो बड़े मार्मिक ही नहीं, प्रसंगानुसार बड़े चुटीले भी हुआ करते थे। एक बार पण्डितजी विलायत जा रहे थे। उसी जहाज पर हैदराबाद के एक नवाब साहब भी थे। वे अकसर पंडितजी से छेड़ छाड़ किया करते। पहले कई बार तो उन्होंने उधर ध्यान न दिया किन्तु जब देखा कि नवाब साहब इस उदासीनता के कारण बाज़ आनेवाले नहीं तो उन्होंने निश्चय किया कि अब नवाब साहब जब छेड़छाड़ करेंगे, वहीं से उनका मुँह बंद कर

दूँगा। संयोग से नवाब साहब ने इस निश्चय के बाद ही, उनसे पूछा—आप गो-मांस खाते हैं? पंडितजी ने बरजस्ता फ़र्माया—गो-मांस तो नहीं; यदि गो-भक्षकों का मांस अच्छी तरह भून भानकर मसाला लगा के मिले तो उसके खाने में न हिचकूँगा! बस, उस दिन से नवाब साहब की, मुँह लगने की, आदत छूट गई।

कानपुर-कांग्रेस में महामना मालवीयजी महाराज के एक व्याख्यान के बाद पंडितजी बोलने को उठे। उसमें मालवीयजी के विचारों की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा—हमारे भाई मालवीयजी उमर में हमसे छः महीने छोटे हैं, इसीलिये बुद्धि में भी उतने ही छोटे हैं। जो बात हमें आज सूझती है, वह उन्हें छः महीने बाद सूझेगी—यह भी एक चोखा व्यंग्य था।

उक्त १९२६ वाली मुलाक़ात, पंडितजी से मेरी सम्भवतः अंतिम मुलाक़ात थी। कौंसिल की चर्चा के बाद देर तक बातें होती रहीं। उसी के कुछ पहले वे पंजाब में आतप-ज्वर से मरते मरते बच चुके थे। उसका हाल भी सुनाते रहे। उस वर्णन ने मेरे सामने उस दुर्घटना का एक शब्द-चित्र खींच दिया था।

उस मुलाकात के बाद, कई बार पंडितजी से मिलने को जी चाहा, किन्तु ऐसे प्रसंग आते रहे कि मन की मन ही में रह गई। बार बार यही सोचा था कि अब मिल लूँगा; किन्तु, हम सब जानते हुए भी यह भूल जाते हैं कि—

नहि प्रतीक्ष्यते कालः कृतमस्य न वा कृतम्।